भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका

ISSN 2321–5704
(वर्ष-9, अंक-8, सितम्बर, 2021)

संरक्षक
कुलपति, प्रो. जे.डी. आही

परामर्शदाता
कुलसचिव, श्री संतोष सोहगौरा

सम्पादक मण्डल
प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी
श्री संतोष सोहगौरा
डॉ. शशिकुमार सिंह
डॉ. नीरज उपाध्याय
डॉ. पंकज सिंह
डॉ. आफरीन खान

सम्पादक
डॉ. छबिल कुमार मेहेर

सहायक सम्पादक
अभिषेक सक्सेना

राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (मध्यप्रदेश)–470003
दूरभाष : (07582) 297118
ई-मेल : hindicell2015@gmail.com

भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका

ISSN 2321 – 5704

वर्ष 9, अंक 8

सितम्बर, 2021

© *सर्वाधिकार सुरक्षित*

सम्पादकीय पत्र व्यवहार :

हिन्दी अधिकारी, राजभाषा प्रकोष्ठ

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (म.प्र.)—470003

दूरभाष : (07582) 297118

ई-मेल : hindicell2015@gmail.com

मूल्य : निःशुल्क आन्तरिक वितरण हेतु

'भाषा भारती' में प्रकाशित रचनाकारों के विचार से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

शब्द संयोजन

विनोद रजक

डिजिटल संस्करण

यही समय है, सही समय है

यही समय है, सही समय है
भारत का अनमोल समय है।
असंख्य भुजाओं की शक्ति है
हर तरफ देश की भक्ति है।
तुम उठो तिरंगा लहरा दो
भारत के भाग्य को फहरा दो।

यही समय है, सही समय है
भारत का अनमोल समय है।
कुछ ऐसा नहीं जो कर ना सको
कुछ ऐसा नहीं जो पा ना सको।
तुम उठ जाओ, तुम जुट जाओ।
सामर्थ्य को अपने पहचानो
कर्तव्य को अपने सब जानो।

यही समय है, सही समय है
भारत का अनमोल समय है।

—प्रधानमंत्री माननीय श्री नरेन्द्र मोदी
15 अगस्त, 2021
75वीं स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर प्रदत्त उद्बोधन से।

संस्मरण के सिद्ध-पुरुष
'प्रो. कान्तिकुमार जैन'
की स्मृति को ...

प्रो. जे.डी. आही
कुलपति (प्र.)
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)–470003

संदेश

'भाषा भारती' के आठवें अंक के डिजिटल प्रकाशन की आप सभी को शुभकामनाएँ!

जैसा कि हम सब जानते हैं कि भाषा हम सब की अस्मिता से जुड़ी होती है। सहज बोलचाल में हम अपने क्षेत्र को 'हिन्दी बेल्ट' कह जरूर देते हैं परन्तु जहाँ तक हिन्दी का सवाल है, आज वह किसी क्षेत्र विशेष की भाषा नहीं है। वह भारत के सभी भाषा-भाषियों के सम्मिलित योगदान से बनी है। उसकी कोई विशिष्ट या अलग शब्दावली नहीं है। इसलिए वह पूरे भारत में बोली, समझी जाती है। यही हिन्दी की पहचान और भूमिका है। यही कारण है कि हाल के युग में हिन्दी का विकास राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ हुआ है।

आज के तेजी से बदलते हुए सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक परिवेश में वैश्वीकरण का प्रभाव हमारे घरों तक आ पहुँचा है, ऐसे में भाषा को सुरक्षित रखने का, उसकी शुद्धता सुनिश्चित करने का मुद्दा हम सबके लिए जरूरी हो गया है। ऐसे में हिन्दी भाषा को जीवित रखने के लिए यह आवश्यक है कि भाषा के स्वरूप को सरल रखा जाए जिससे कि यह व्यावहारिक हो और लोगों को उसका उपयोग करने में सुगमता रहे।

एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय के सदस्य और उससे भी बढ़कर भारत का नागरिक होने के नाते संविधान द्वारा राजभाषा का दर्जा प्राप्त 'हिन्दी' भाषा के प्रचार-प्रसार का नैतिक दायित्व हम सबका है। हमारे पूर्वजों के अथक प्रयासों से आज हिन्दी हमारी 'राजभाषा' है। यही राजभाषा-संपर्क भाषा हिन्दी आज दुनिया में दूसरी सबसे अधिक बोली और समझी जाने वाली भाषा है। स्पष्ट है कि आज हिन्दी राजभाषा ही नहीं बल्कि जन की सोच, उसकी गति और अभिव्यक्ति का सरल और प्रभावशाली माध्यम भी है। राष्ट्रीय एकता और समन्वय में भी हिन्दी ने महती भूमिका निभाई है।

हम सब मिलकर हिन्दी की प्रगामी प्रगति के लिए निरन्तर प्रयास करते रहें ऐसी मेरी कामना है।

सितम्बर, 2021

(प्रो. जनक दुलारी आही)

संतोष सोहगौरा
कुलसचिव (प्र.)
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.)–470003

संदेश

हमारा देश एक लोकतांत्रिक देश है और इस नाते यह आवश्यक है कि देश का प्रशासनिक, व्यावसायिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी आदि कार्य जनता की भाषा में हों। भारत के संविधान में हिन्दी को राजभाषा का दर्ज़ा प्रदान किया गया है। इसलिए हमारा यह प्रयास होना चाहिए कि हम जीवन के विविध क्षेत्रों में हिन्दी का अधिकाधिक प्रयोग करें।

सारी दुनिया जानती है कि हिन्दी का व्याकरण सर्वाधिक वैज्ञानिक है। हिन्दी व्यापार, विज्ञापन, संगीत, सिनेमा और बाजार की भाषा है। संपर्क, संबंध, संचार, व्यापार ही नहीं प्यार की भाषा है। भारत में बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपने विज्ञापनों के लिए हिन्दी का खुलकर प्रयोग कर रही हैं। सिनेमा और टी.वी. चैनलों ने भी इसे महत्त्वपूर्ण बनाया है। कम्प्यूटर और तकनीकी क्षेत्र में भी हिन्दी का भरपूर प्रयोग होने लगा है।

कोरोना की महामारी के दौर में शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। ई-पाठशाला, स्वयम, मूक ई-लर्निंग आदि के माध्यम से डिजिटलाइजेसन की दिशा में ये महत्त्वपूर्ण कदम आज इस संकट की घड़ी में काफी प्रासंगिक सिद्ध हो रहे हैं। ऐसे में विश्वविद्यालय की गृह राजभाषा पत्रिका 'भाषा भारती' के आठवें अंक को डिजिटल रूप में भी प्रकाशित किया जा रहा है। विश्वास है कि पूर्व के अंकों की ही भाँति यह अंक भी आपको पसंद आयेगा। पत्रिका को रुचिकर बनाने वाले सभी लेखकों, कवियों व चिंतकों को सादर साधुवाद और 'भाषा भारती' प्रकाशन से जुड़े सभी महानुभावों को बहुत बधाई।

पत्रिका के सफल प्रकाशन हेतु हार्दिक शुभकामनाएँ।

सितम्बर, 2021

(संतोष सोहगौरा)

सम्पादकीय–

भाषा, राजभाषा और राष्ट्रभाषा

'राष्ट्रभाषा राजभाषा मातृभाषा है,
हिन्दुस्तान की हिन्दी की सच्ची परिभाषा है।'

1

भाषा एक सामाजिक क्रिया है, किसी व्यक्ति की कृति नहीं। समाज में यह विचार-विनिमय का साधन है। मनुष्य और मनुष्य के बीच, वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है, उसे भाषा कहते हैं। भाषा किसी-न-किसी वस्तु के बारे में कहती है। वह समाज सापेक्ष होती है। उसका कोई प्रयोजन होता है और विकसित होते-होते वह मनुष्य के विचार और अभिव्यक्ति का साधन बन जाती है। मानव जाति की प्रत्येक पीढ़ी नई भाषा उत्पन्न नहीं करती। वह अपने पूर्वज से उसे सीखती है और इस प्रकार भाषा परम्परागत सम्पत्ति है। उसकी धारा अविच्छिन्न चलती रहती है। साथ ही यह अर्जित सम्पत्ति है अर्थात् आपस के या सामाजिक साहचर्य द्वारा वह सीखनी पड़ती है।

भाषा का सर्जनात्मक आचरण के समानान्तर जीवन के विभिन्न व्यवहारों के अनुरूप भाषिक प्रयोजनों की तलाश हमारे दौर की अपरिहार्यता है। इसका कारण यही है कि भाषाओं को सम्प्रेषणपरक प्रकार्य कई स्तरों पर और कई सन्दर्भों में पूरी तरह प्रयुक्ति सापेक्ष होता गया है। प्रयुक्ति और प्रयोजन से रहित भाषा अब भाषा ही नहीं रह गई है।

भाषा की पहचान केवल यही नहीं कि उसमें कविताओं और कहानियों का सृजन कितनी सप्राणता के साथ हुआ है, बल्कि भाषा की व्यापकतर संप्रेषणीयता का एक अनिवार्य प्रतिफल यह भी है कि उसमें सामाजिक सन्दर्भों और नये प्रयोजनों को साकार करने की कितनी संभावना है। इधर संसार भर की भाषाओं में यह प्रयोजनीयता धीरे-धीरे विकसित हुई है और रोजी-रोटी का माध्यम बनने की विशिष्टताओं के साथ भाषा का नया आयाम सामने आया है : वर्गभाषा, तकनीकी भाषा, सर्जनात्मक भाषा, राजभाषा, राष्ट्रभाषा, सम्पर्क भाषा, बोलचाल की भाषा, मातृभाषा, मानक भाषा आदि। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 के अनुसार हिन्दी हमारी 'राजभाषा' है।

'राजभाषा' का सामान्य अर्थ है– राजकाज की भाषा। दूसरे शब्दों में जिस भाषा के द्वारा राजकीय कार्य सम्पादित किए जाएँ वही 'राजभाषा' कहलाती है। भारत जैसी जनतांत्रिक प्रणाली में दोहरी शासन पद्धति होती है : 1. केन्द्र की शासन पद्धति और 2. राज्य की शासन पद्धति। इस कारण राजभाषा की स्थिति भी दो प्रकार की होती है। प्रथम केन्द्रीय अथवा संघ की राजभाषा तथा द्वितीय राज्यों की राजभाषा। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'राजभाषा' को परिभाषित करते हुए कहा है : 'राजभाषा उसे कहते हैं जो केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारों द्वारा पत्र-व्यवहार, राजकाज और सरकारी लिखा-पढ़ी के काम में लाई जाए।'

उल्लेखनीय बात यह है कि संविधान में 'राष्ट्रभाषा' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं किया गया है। संविधान के भाग-17 का शीर्षक है 'राजभाषा'। इसका अध्याय-1 'संघ की भाषा' के विषय में है। इसके अनुच्छेद 343 में संघ की राजभाषा का उल्लेख है और अनुच्छेद 344 'राजभाषा' के सम्बन्ध में आयोग और संसद की समिति के बारे में है। अध्याय-2 का शीर्षक है : 'प्रादेशिक भाषाएँ', इसके अन्तर्गत अनुच्छेद 345 'राज्य की राजभाषा या राजभाषाएँ' सम्बन्धी है, अनुच्छेद 346 'एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच या किसी राज्य और संघ के बीच पत्रादि की राजभाषा' विषयक है। इन अनुच्छेदों में कहीं किसी भाषा को 'राष्ट्रीय भाषा' भी नहीं कहा गया। परन्तु उसके अनुच्छेद 351 में हिन्दी के 'राष्ट्रभाषा' रूप की ही कल्पना की गई है। राजभाषा आयोग की सिफारिश पर जो वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दवली आयोग बना, उसने शब्दावली इस प्रकार तैयार की है कि वह केवल हिन्दी भाषा के लिए ही काम न आए बल्कि उसका प्रयोग सामान्यतः अन्य भाषाओं में भी हो सके। जिन दिनों संविधान सभा में भाषा के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा हुई, अनेक सदस्यों ने हिन्दी के लिए राष्ट्रभाषा शब्द का प्रयोग किया। इससे संविधान सभा के सदस्यों की भावना का पता चलता है।

हिन्दी का लगभग एक हजार वर्ष का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिन्दी ग्यारहवीं शताब्दी से ही प्रायः अक्षुण्ण रूप से राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित रही है। चाहे राजकीय प्रशासन के स्तर पर कभी संस्कृत, कभी फरासी और बाद में अंग्रजी को मान्यता प्राप्त रही, किन्तु समूचे राष्ट्र के जन-समुदाय के आपसी सम्पर्क, संवाद-संचार, विचार-विमर्श, सांस्कृतिक ऐक्य और जीवन-व्यवहार का माध्यम हिन्दी ही रही।

ग्यारहवीं सदी में हिन्दी के आविर्भाव से लेकर आज तक राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की विकास परम्परा को मुख्यतः तीन सोपानों में बाँटा जा सकता है– आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल। आदिकाल के आरम्भ में तेरहवीं सदी तक भारत में जिन लोक-बोलियों का प्रयोग होता था, वे प्रायः संस्कृत की उत्तराधिकारिणी प्राकृत और अपभ्रंश से विकसित हुई थीं। कहीं उन्हें देशी भाषा कहा गया, कहीं अवहट्ट और कहीं डींगल या पिंगल। ये उपभाषाएँ बोलचाल, लोकगीतों, लोक-वार्त्ताओं तथा कहीं-कहीं काव्य रचना का भी माध्यम थीं। बौद्व मत

के अनुयायी भिक्षुओं, जैन-साधुओं, नाथपंथियों जोगियों और महात्माओं ने विभिन्न प्रदेशों में धूम-धूम कर वहाँ की स्थानीय बोलियों या उपभाषाओं में अपने विचार और सिद्धान्तों को प्रचारित-प्रसारित किया। असम और बंगाल से लेकर पंजाब तक और हिमालय से लेकर महाराष्ट्र तक सर्वत्र इन सिद्ध-साधुओं, मुनियों-योगियों ने जनता के मध्य जिन धार्मिक-आध्यात्मिक-सांस्कृतिक चेतना का संचार किया उसका माध्यम लोक-बोलियाँ या जन-भाषाएँ ही थीं, जिन्हें पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, राहुल सांकृत्यायन तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानों ने 'पुरानी हिन्दी' का नाम दिया है। इन्हीं के समानान्तर मैथिली-कोकिल विद्यापति ने जिस सुललित मधुर भाषा में राधाकृष्ण-प्रणय सम्बन्धी सरस पदावली की रचना की, उसे उन्होंने 'देसिल बअना' (देशी भाषा) या 'अवहट्ट' कहा। पंजाब के अट्टहमाण (अब्दुर्रहमान) ने 'संदेश रासक' की रचना परवर्ती अपभ्रंश में की, जिसे पुरानी हिन्दी का ही पूर्ववर्ती रूप माना जा सकता है। रासो काव्यों की भाषा डींगल मानी गई जो वास्तव में पुरानी हिन्दी का ही एक प्रकार है। सबसे पहले इसी पुरानी हिन्दी को 'हिन्दुई', 'हिन्दवी', अथवा 'हिन्दी' के नाम से पहचान दी अमीर खुसरो ने।

वस्तुतः आदिकाल में लोक-स्तर से लेकर शासन-स्तर तक और सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र से लेकर साहित्यिक क्षेत्र तक हिन्दी राष्ट्रभाषा की कोटि की ओर अग्रसर हो रही थी।

मध्यकाल में भक्ति आन्दोलन के प्रभाव से हिन्दी भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक जनभाषा बन गई। भारत के विभिन्न वर्गों और क्षेत्रों में सांस्कृतिक ऐक्य के सूत्र होने का श्रेय हिन्दी को ही है। दक्षिण के विभिन्न दार्शनिक आचार्यों ने उत्तर भारत में आकर संस्कृत का दार्शनिक चिन्तन हिन्दी के माध्यम से लोक-मानस में संचारित किया। दूसरे शब्दों में कहें तो हिन्दी व्यावहारिक रूप से राष्ट्रभाषा बन गई।

आधुनिक काल में हिन्दी भारत की राष्ट्रीय अस्मिता का प्रतीक बन गई। वर्षों पहले अंग्रेजों द्वारा फैलाया गया भाषाई कूटनीति का जाल हमारी भाषा के लिए रक्षाकवच बन गया। विदेशी अंग्रेजी शासकों को समूचे भारत राष्ट्र में जिस भाषा का सर्वाधिक प्रयोग, प्रसार और प्रभाव दिखाई दिया, वह हिन्दी थी, जिसे वे लोग हिन्दुस्तानी कहते थे। चाहे पत्रकारिता का क्षेत्र हो चाहे स्वाधीनता संग्राम का, हर जगह हिन्दी ही जनता के भाव-विनिमय का माध्यम बनी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, स्वामी दयानन्द सरस्वती, महात्मा गाँधी सरीखे राष्ट्र-पुरुषों ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के ही जरिए समूचे राष्ट्र से सम्पर्क किया और सफल रहै। तभी तो आजादी के बाद संविधान-सभा ने बहुमत से 'हिन्दी' को राजभाषा का दर्जा देने का निर्णय लिया था।

संविधान द्वारा खड़ीबोली हिन्दी को राजभाषा स्वीकार किए जाने के साथ ही हिन्दी का परम्परागत अर्थ, स्वरूप तथा व्यवहार-क्षेत्र व्यापकतर हो गया। जैसे ही हिन्दी राजभाषा की नवीन भूमिका में प्रस्तुत हुई, उसकी नए सिरे से पहचान होनी आरम्भ हुई। इसके संवर्द्धन एवं

व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए भारत सरकार की ओर से कई ठोस कदम उठाए गए, अनेकानेक योजनाएँ तैयार की गईं। आयोग बने, पारिभाषिक शब्दावली बनी, कार्यालयों, बैंकों, व्यापार-प्रतिष्ठानों, उद्योगों तथा रेल आदि में हिन्दी को बढ़ावा देने के लिए अनेकानेक हिन्दी पद सृजित किए गए। सरकारी कार्यालयों में द्विभाषी नियम लागू होने उपरान्त अनुवाद का एक नया चेहेरा उभरकर सामने आया; कार्यालयी हिन्दी का एक नया स्वरूप सामने आया।

2

'भाषा भारती' के पहले सात अंकों को आप सभी का जो प्यार और दुलार मिला वह हमारे लिए गौरव का विषय रहा। आशा करता हूँ कि संस्मरण के सिद्ध-पुरुष 'प्रो. कान्तिकुमार जैन' की स्मृति को सादर समर्पित यह आठवाँ अंक आप लोगों की कसौटी पर खरा उतरेगा। पहले की भाँति यह अंक भी हमारे सम्माननीय शिक्षकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों में हिन्दी-प्रेम का जादू बिखरेन में सक्षम होगा। इसी उम्मीद के साथ 'भाषा भारती' के आठवे अंक को आप तक पहुँचाते हुए मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है।

'भाषा भारती' को यथाशीघ्र प्रकाशित एवं प्रसारित करवाने की दिशा में निरन्तर प्रोत्साहित एवं प्रेरित करने वाले विश्वविद्यालय की माननीया प्रभारी कुलपति प्रो. जनक दुलारी आही जी एवं प्रभारी कुलसचिव श्री संतोष सोहगौरा को पत्रिका प्रकाशन के शुभअवसर पर मैं ससम्मान याद कर रहा हूँ। दोनों महानुभवों की सदाशयता एवं सहृदयता के प्रति 'भाषा भारती' परिवार अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता है। 'भाषा भारती' पर विश्वास कर अपने महत्त्वपूर्ण सृजन को इसमें शामिल करने की अनुमति देने वाले सभी विद्वज्जनों के प्रति भी हृदय से आभार। सम्पादक मंडल के सदस्यगण, विश्वविद्यालय के शिक्षकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों से जो भरपूर प्यार एवं सहयोग मिला उसके लिए तहेदिल से शुक्रिया। पत्रिका से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े सभी विद्वज्जनों के प्रति हम सब कृतज्ञ हैं। विश्वास है कि आगे भी उनका सहयोग हमें यूँ ही मिलता रहेगा। आप लोगों की बेबाक टिप्पणी, निष्पक्ष प्रतिक्रिया एवं महत्त्वपूर्ण सुझावों का इंतजार रहेगा। इत्यलम्।

14.09.2021
हिन्दी दिवस

–छबिल कुमार मेहेर
सी-100, विश्वविद्यालय परिसर
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर, मध्यप्रदेश, पिन-470003
मो. 8989154228

अनुक्रमणिका

कुलपति का संदेश
कुलसचिव का संदेश
सम्पादकीय

भाषा और चिंतन

वर्तमान समय में भाषा और साहित्य की स्थिति 15
निर्मल वर्मा

हमारा आत्म बिम्ब : हिन्दी साहित्य और संस्कृति के दर्पण में 25
रमेशचंद्र शाह

बुंदेली क़िस्सागोई 37
रमेशदत्त दुबे

बाजारवादी समाज में साहित्य की जगह 44
रसाल सिंह एवं कमल दीप सिंह

राष्ट्रीयता एवं भारतीय भाषाएँ 53
तारु.एस. पवार

प्रशासन और राजभाषा हिन्दी 58
आर.पी. सिंह

हिन्दी पत्रकारिता की भाषा 65
राजेन्द्र प्रसाद सिंह

उत्तर-आधुनिकता : विभ्रम और यथार्थ 74
रवि श्रीवास्तव

संस्कृति और साहित्य

राष्ट्रीय संस्कृति और राष्ट्रीय साहित्य 85
रामरतन भटनागर

रामकथा में प्रतिम्बित भारतीय संस्कृति के आदर्शमय जीवन-मूल्य 98
नागेश दुबे

रामचरितमानस : मेरे अनुभव 103
ब्रजरतन जोशी

कविता

वही दाना देना प्रभु 109
गगन गिल

एक ख़लिश, एक तमन्ना 113
आफरीन खान

हिन्दी महिमा 114
संतोष सोहगौरा

परोपकार, पेड़ और प्रकृति 115
नीरज उपाध्याय

प्रेम के पंछी, नाचे में मोर 116
रामहेत गौतम

बेटी 117
प्रकाश जैन

शिक्षक 118
महेन्द्र कुमार

लघुकथा

तीन लघु कथाएँ 119
आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

सर्जक और सर्जना

कबीर और गाँधी : दो जुलाहे, दो सन्त 123
रमेश दवे

डॉ. हरीसिंह गौर का धार्मिक दृष्टिकोण एवं बौद्ध धर्म 132
ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव

विष्णु खरे : कृति के साथ आलोचना का युग्म रचती कविता 144
दिनेश अत्रि

राजनैतिक मुहावरे के कवि धूमिल 150
हिमांशु कुमार

महात्मा गाँधी के विचारों में समन्वयवाद : पूर्व एवं पश्चिम के विचारों का संगम 156
पंकज सिंह

रिपोर्ट

राजभाषा उन्नयन की रिपोर्ट 166
विनोद रजक

●●●

वर्तमान समय में भाषा और साहित्य की स्थिति

–निर्मल वर्मा

यह एक सांस्कृतिक विडंबना ही मानी जायगी कि स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व एक सामान्य हिन्दी-भाषी व्यक्ति का अपने साहित्य और उसके लेखक से भावनात्मक संबंध आज से कहीं अधिक गहरा और अर्थपूर्ण था। हिन्दी भाषा केवल विचारों का माध्यम नहीं, स्वाधीन चेतना का प्रतीक थी और इस अर्थ में हमारे उन समस्त अनुभवों का प्रतिनिधित्व करती थी, जिसे हम व्यापक रूप से भारतीय संस्कृति का नाम देते हैं, यदि हिन्दी की यह भूमिका पिछले वर्षों में धूमिल पड़ गयी है, तो इसके कारणों का विश्लेषण करना हमारा प्राथमिक कर्तव्य बन जाता है।

प्रायः कहा जाता है, कि भारत के अनेक भाषाओं में विभाजित होने से उसके साहित्य का स्वर और स्वरूप उस रूप में अखंडित समग्रता प्राप्त नहीं कर पाता, जितना हम यूरोपीय देशों के एक-भाषी 'मोनोलिथिक' साहित्यों में देख पाते हैं। मैं इस आरोप को नितांत सारहीन पाता हूँ। यह सही है कि भारतीय भाषाओं की विकास-यात्रा एक-दूसरे से काफी भिन्न रही है। मैं आज उनके उतार-चढ़ाव के विभिन्न कारणों में नहीं जाना चाहूँगा। यह स्पष्ट है कि हर भाषा अनेक दिशाओं से प्रभाव ग्रहण करती हुई अपनी पहचान, अपना विशिष्ट चरित्र गढ़ती है, किन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्व ऐसे भी हैं, जो भारतीय भाषाओं को, उनके वैशिष्ट्य के बावजूद, एक बड़ी सांस्कृतिक अस्मिता में एकसूत्रित भी करते हैं। यह सही है कि कालान्तर से हर भारतीय भाषा को अधिक लचीला, बहुमुखी और समृद्ध बनाने में स्थानीय बोलियों–dilects, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी भाषाओं की भी महत्त्वपूर्ण देन रही। किन्तु जहाँ तक भारतीय भाषाओं के मूल सांस्कृतिक संस्कारों का प्रश्न है, उन्हें सुगठित करने में संस्कृत का योगदान मेरी दृष्टि से उतना ही केन्द्रीय महत्त्व रखता है, जितना एक समय में लातिन और ग्रीक भाषाओं ने यूरोपीय देशों के जातीय संस्कारों को निर्मित करने में सक्रिय भूमिका अदा की थी। अंतर यदि था, तो इतना ही कि जब मध्यकाल के समाप्त होने से पूर्व यूरोप में लातिन-ग्रीक भाषाओं के स्रोत सूखने लगे थे, वहाँ चिंतन, तत्त्वज्ञान और दर्शन के क्षेत्रों में संस्कृत एक जीवंत माध्यम के रूप में भारतीय भाषा के साहित्य को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पोषित करती रही। विभिन्न भाषाओं के भीतर एक ही सांस्कृतिक धारा प्रवहमान होती रही।

यह वह मुख्य कारण है कि भारत में सैकड़ों भाषाएँ और बोलियाँ होते हुए भी उनके परस्पर संबंध और सौहार्द का स्नेह-बंधन कभी ढीला और कमजोर नहीं पड़ा। आचार्य

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बहुत संवेदनशील शब्दों में 'अनेक में एक' की इस अद्‍भुत भाषाई परम्परा को रेखांकित करते हुए कहा है, ''हमारे देश ने हजारों वर्ष पहले भाषा की समस्या हल कर दी थी। हिमालय से लेकर सेतुबंध तक सारे भारतवर्ष में धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की भाषा कुछ सौ वर्ष पहले तक एक ही रही है। यह भाषा संस्कृत रही है। भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ उत्तम है, वह इस भाषा के भंडार में संचित किया गया है। जितनी दूर तक इतिहास हमें पीछे ठेल कर ले जा सकता है, उतनी दूर तक इस भाषा के सिवा हमारा दूसरा कोई सहारा दिखाई नहीं देता।

यह केवल भावोच्छ्‍वास नहीं है, जब आचार्य आगे चल कर कहते हैं, ''मैं नहीं जानता कि संसार के किसी दूसरे देश में इतने काल तक इतनी दूरी तक व्याप्त इतने उत्तम मस्तिष्क में विचरण करनेवाली कोई भाषा है या नहीं, शायद नहीं है।'' यह अकारण नहीं था कि उन्नीसवीं शती के मध्य में जब अंग्रेजी शासकों ने भारतीय मानस को औपनिवेशिक ढाँचे में ढालने का बीड़ा उठाया, तो मैकाले के एक सहधर्मी अफसर ने कहा था कि भारतीय मस्तिष्क को पश्चिमी संस्कृति में दीक्षित करने के रास्ते में उनके सामने दो बड़े अवरोध—संस्कृत भाषा और ब्राह्मणों का बौद्धिक वर्चस्व है। यह क्या आँखे खोल देनेवाला सत्य नहीं है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के साठ वर्ष बाद आज का भारतीय एलीट वर्ग अपनी 'क्रांतिकारी' शब्दावली में वही बात दुहरा रहा है, जो दो सौ वर्ष पूर्व स्कूलों के अंग्रेज इंस्पेक्टर ने कही थी?

सच तो यह है कि हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास इन दो पाटों के बीच हुआ था। एक ओर औपनिवेशिक सत्ता का राष्ट्रविरोधी अभियान, जो 1857 के विद्रोह के बाद अधिक तीव्र और आक्रामक हुआ था, दूसरी ओर भारत की जातीय संस्थाओं, शिक्षा पद्धति और परंपरागत आर्थिक और आध्यात्मिक आधारों का अवसान, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय मानस में एक विचित्र प्रकार की शून्यता और क्षोभ का संचार हुआ था। औपनिवेशिक निराशा और विषाद के ये लक्षण और उन्हें नंगी आँखों से देखने का साहस—दोनों ही तत्त्व हम भारतेंदु युग के अनेक लेखकों में देख सकते हैं। हिन्दी भाषा का संघर्ष तेजी से जर्जरित होते सांस्कृतिक स्रोतों के बीच अपनी जातीय अस्मिता को प्रतिष्ठित करना था, जिसमें परंपरा के प्रति लगाव उतना ही गहरा था, जितना उसे आधुनिक समय की चुनौतियों का सामना करने के लिए समर्थ बनाने का आग्रह। इसके लिए हिन्दी ने दो रास्तों को चुना, जो ऊपर से परस्पर विरोधी जान पड़ते थे, किन्तु जो वास्तव में एक-दूसरे के पूरक थे। पहला रास्ता संस्कृति के उन समस्त तत्त्वों को अपने भीतर समाहित करना था, जिसे विदेशी शासन ने एक-एक करके जातीय जीवन से उन्मूलित करने का प्रयास किया था, दूसरा रास्ता अपने को उन रूढ़ियों, बंधनों और अंधविश्वासों से मुक्त करवाना था, जो आधुनिक संचेतना को अवरुद्ध करते थे। यह उल्लेखनीय है कि हिन्दी भाषी प्रदेश में खड़ी बोली के विकास के पीछे जो ऐतिहासिक बाध्यता थी, उसे ये दोनों रास्ते एक-दूसरे से मिलकर मूर्तिमान करते थे।

हिन्दी साहित्य और खड़ी बोली ने जिस साहस और सूझ-बूझ के साथ इन दो प्रतिरोधी धाराओं को अपने भीतर समन्वित किया, यह कोई आसान काम नहीं था। यह एक तरह से नंगी तलवार पर चलना था। आधुनिक युग के तथाकथित 'सेक्युलर' तकाजों को पूरा करते हुए भी अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक परंपरा को अक्षुण्ण रख पाना, विशेष कर उस कठिन समय में, जब विदेशी शासन सत्ता सभ्यता के अपने पुनीत अभियान में भारतीय मनीषा को उसके 'बर्बर, जंगली संस्कारों' से उबारने के लिए जी-जान से जुटी थी। आज जब 'सभ्यताओं के द्वंद्व' की बात की जाती है, तो अक्सर यह भुला दिया जाता है, कि इस द्वंद्व के विषैले लक्षण तो तीन सौ पूर्व ही दिखायी देने लगे थे, जब समृद्धि और सफलता के दर्पोन्माद में पश्चिमी सभ्यताओं ने यूरोप के बाहर फैली संस्कृतियों को विध्वंस करना आरम्भ किया था। भारतीय सभ्यता का प्रभुत्व पश्चिम की आँखों में सबसे अधिक चुनौतीपूर्ण था। इसलिए नहीं कि वह सभ्यता अपने सातत्य में सबसे अधिक दीर्घकालीन और प्राचीन थी, बल्कि इसलिए कि उसने मानव संस्कृति के हर क्षेत्र में—दर्शन, तत्त्वचिंतन, आध्यात्मिक और धार्मिक अंतर्दृष्टियों, न्याय, शासन, शिक्षा और भाषा विज्ञान, विविध कलाओं की साधनाओं, नाट्यशास्त्र आदि में—एक सम्पूर्ण जीवन दृष्टि का अन्वेषण किया था। स्पष्ट ही यूरोपीय सभ्यता के प्रसार में पाँच हजार वर्ष पुरानी भारतीय सभ्यता—ऐतिहासिक चोटों और घावों के बावजूद—सबसे अधिक खतरनाक अवरोध उपस्थित करती थी। यह आकस्मिक नहीं था, कि भारतीय सभ्यता की इस विपुल और समृद्ध धरोहर ने हिन्दी के बहुमुखी चरित्र को बनाने में ऐसा योगदान दिया था, कि वह साहित्य की एक व्यापक, सम्पन्न और स्वावलंबी भाषा बन सकी।

यहाँ यह जोड़ना अप्रासंगिक नहीं होगा कि हिन्दी ने अपना वर्तमान राष्ट्रीय चरित्र बिना किसी ऐतिहासिक बाधाओं अथवा राजनीतिक तनावों से मुठभेड़ किये बिना अर्जित कर लिया था। इसके पीछे संघर्ष की जटिल भूमिका था। शिक्षा और ज्ञान की समस्त भारतीय संस्थाओं और स्रोतों को, जो अंग्रेजों के भारत आने से पहले भारत के गाँवों और शहरों में मौजूद थीं, किस तरह उत्तरोत्तर नष्ट किया गया। यह हमारे औपनिवेशिक अतीत की दारूण गाथा है, जिसका विशद, विस्तृत विश्लेषण भारतीय इतिहासकार श्री धर्मपाल ने अपनी पुस्तकों में किया है। मद्रास, बंगाल और महाराष्ट्र में गाँवों की सहकारी पाठशालाओं द्वारा संस्कृत और क्षेत्रीय भाषाओं में समस्त वर्गों, वर्णों और संप्रदायों के बच्चों को भारतीय ज्ञान-विज्ञान में कैसे दीक्षित किया जाता था, इसका परिचय पहली बार हमें इन पुस्तकों में दिये आँकड़ों से मिलता है। इसमें हमें यह भी पता चलता है कि भारत की शिक्षा पद्धति पर अंग्रेजी का आरोपण सिर्फ एक भाषाई संकट न हो, समूची सांस्कृतिक परंपरा के संहार की दुर्घटना बनी थी। हिन्दी भाषाई प्रान्तों में स्थिति और अधिक बदतर थी। विदेशी सत्ता ने अपनी कूटनीति से समूचे जातीय जीवन में प्रयुक्त होनेवाली हिन्दी की खड़ी बोली को शासकीय ढाँचे से अलग कर रखा था। सरकारी कामकाज के लिए अंग्रेजी या उर्दू-फ़ारसी का व्यवहार होता था। उर्दू के सहज भारतीय संस्कारों

को नष्ट करके उसे फ़ारसी के रंग में ढालने का प्रयास किया जा रहा था। इस तरह के कृत्रिम भाषाई विभाजन ने कालान्तर में सांप्रदायिक रूप धारण किया जो अंततः देश के विभाजन का कारण भी बना। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने समय में बहुत सावधानी से किसी देश के भाषाई और जातीय अंतर्संबंधों का विवेचन किया था। उन्हीं के शब्दों में, ''किसी देश के साहित्य का संबंध उस देश की सांस्कृतिक परंपरा से होता है, अतः साहित्य की भाषा उस संस्कृति का त्याग करके नहीं चल सकती।'' इस संदर्भ में वह जो आगे कहते हैं, मेरी दृष्टि में वह आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना उस समय में था, जब शुक्ल जी लिख रहे थे, ''जिस प्रकार हिन्दीपन निकाल-निकाल कर एक विदेशी ढाँचे की भाषा खड़ी करने का क्रमबद्ध इतिहास है, उसी तरह हिन्दी को दूर रखने के घोर प्रयत्नों का भी खासा इतिहास है, जो उस समय से शुरू होता है, जब देश का पूरा शासन अंग्रेजों के हाथ में आया।''

आप देखेंगे, आरंभ से ही हिन्दी का दायरा कभी इतना संकीर्ण नहीं रहा कि वह केवल एक प्रादेशिक साहित्य का भाषाई माध्यम बन कर अपने को समेट ले। उसका कर्मक्षेत्र इससे कहीं अधिक व्यापक रहा है। जिन औपनिवेशिक कारणों से उसमें निखार आया, वहाँ उसके लिए यह नैतिक दायित्व बन गया कि वह देश की घोर निराशापूर्ण दरिद्रता को अनदेखा न करके भारतीय मनुष्य के खोये हुए आत्मविश्वास को पुनः जाग्रत कर सके। भारतेन्दु युग के गद्यकारों—विशेषकर बालमुकुंद गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, और सबसे अधिक स्वयं भारतेन्दु हरिश्चंद्र की रचनाओं में इस आत्मविश्वास की उगती हुई नयी चमक दिखाई देती है। यह हिन्दी गद्य के उत्थान, ताजगी और ऊर्जा का ऐसा चरण था, जहाँ भारतीय संस्कृति पर होने वाले उत्तरोत्तर बढ़ते आक्रमणों का सामना किया गया था। पहली बार खड़ी बोली में रचे हिन्दी साहित्य का स्वायत्त चरित्र उजागर हुआ था। हिन्दी के आत्मबोध की शुरुआत धार्मिक परम्परा और संस्कारों से कटकर पश्चिम की तथाकथित आधुनिकता की नकल करने से उत्पन्न नहीं हुई थी, जैसा हम बंगाल नवजागरण के कतिपय बुद्धिजीवियों में देखते हैं। दूसरी तरफ इसमें अतीत की अंधी पूजा भी नहीं थी। दोनों अतियों के बीच हिन्दी की रचनात्मक मेधा एक तीव्र आलोचनात्मक चेतना के भीतर से प्रस्फुटित हुई थी।

किन्तु यहाँ हमें एक बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। जरूरी नहीं, जो भाषाएँ ऐतिहासिक चुनौतियों के उत्तर में एक तरह का सांस्कृतिक दायित्व अपने ऊपर ओढ़ती हैं, उनका सृजनात्मक साहित्य कलात्मक रूप से भी सशक्त हो। इतिहास में किसी जाति के आत्मबोध का क्षण महत्त्वपूर्ण है, किन्तु जन्म लेने के बाद वह तुरंत ही साहित्यिक रचनाओं में अवतरित नहीं हो जाता। उसके लिए मनुष्य के स्वायत्त व्यक्तित्त्व का सर्वांगीण विकास अनिवार्य होता है, जिसे बनने में समय लगता है। साहित्य में किसी 'नये' के आगमन की आहट सुनना एक बात है, उसका कविता या कहानी में कलात्मक सौष्ठव के साथ रूपांतरित होना बिल्कुल

दूसरी बात है। आज जब हम भारतेंदु युग की ऐतिहासिक देन की बात करते हैं, तो उन आत्म-निबंधों और लेखों की ओर ध्यान अधिक जाता है, जहाँ हिन्दी गद्य की क्रिटिकल चेतना सीधे बाह्य परिस्थितियों के आघातों को व्यक्त करती थी, जो भारतीय संस्कृति पर हो रहे थे, पर हमें उन अंदरूनी संश्लिष्ट परिवर्तनों का अधिक पता नहीं चलता, जो स्वयं व्यक्ति के भीतर हो रहे थे—जिससे उसके अनुभूति-जगत् की बदलती हुई बनावट का पता चल सकें। यह नहीं कि कला और साहित्य में बाहरी परिस्थितियों का कोई महत्त्व नहीं होता, पर उतना ही जितना वे अपने माध्यम से मनुष्य के मानस में होने वाली हलचलों, परिवर्तनों और नये उन्मेषों को उद्भासित कर सकें। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए इक्का-दुक्का उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा।

बंगाल के नवजागरण के दिनों में उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में जो धुँआँधार सैद्धांतिक वाद-विवाद हो रहे थे—भारतीय परम्परा और पश्चिमी आधुनिकता के बीच, ब्रह्म समाज के एकेश्वरवाद और धर्म की बहुल दैवी आस्थाओं के बीच—यह एक ऐसी आत्ममंथन की सांस्कृतिक वार्ता थी जिनके प्रमुख प्रतिनिधि राजा राममोहन राय, बंकिमचंद्र, केशवचंद्र सेन, विवेकानंद आदि मनीषी साधक थे। उल्लेखनीय बात यह है कि नवजागरण की यह वार्ता सिर्फ इतिहास के पन्नों पर एक 'बौद्धिक आंदोलन' के रूप में अंकित हो कर सिमट जाती, यदि उनका पुंजीभूत प्रतिफलन हमें रवीन्द्रनाथ के उपन्यास 'गोरा' में न दिखाई देता। यह उपन्यास कलात्मक रूप से इसलिए उत्कृष्ट नहीं है, कि वह सिर्फ सैद्धांतिक बहसों का एक जीवन्त दस्तावेज है (जो वह है भी), किन्तु इसलिए है, कि वह भारतीय नवजागरण के समस्त अंतर-विरोधी तत्त्वों के संश्लिष्ट सम्मिश्रण से उत्पन्न भी हुआ है और पूरी समग्रता से अपनी औपन्यासिक संरचना में प्रतिबिंबित भी करता है। इसी तरह भारतेंदु युग के निबंधात्मक गद्य की व्यंग्यात्मकता और अवसाद अंततः प्रेमचंद की कथाकृतियों में अपने समय का अतिक्रमण करती हुई आज भी हमें इतना उद्वेलित कर पाती हैं। यह बात टॉल्स्टॉय के उपन्यास 'युद्ध और शांति' जैसे एपिक उपन्यास पर और भी अधिक सटीक ढंग से लागू होती है, जो रूस पर नेपोलियन के आक्रमण के पचास वर्ष बाद लिखा गया था, ताकि बीच के अंतराल में रूसी मानसिकता के भीतर जो उथलपुथल हुई थी—उन्हें लेकर लेखक अधिक गहरी निस्संग वस्तुपरकता के साथ 'रूसी आत्मा' के मर्म को उद्घाटित कर सके।

इन सब उदाहरणों को देने के पीछे मेरा आशय सिर्फ इतना है कि जिन बाहरी परिस्थितियों के संघर्षण से किसी जाति का चरित्र गठन होता है, वे जब तक अपनी पैठ मनुष्य के अनुभूति क्षेत्र की आंतरिकता में नहीं कर लेते, तब तक उनका कलात्मक रूप, कविता या उपन्यास में पूरी उत्कटता से प्रकट नहीं हो सकता। इसके साथ यह भी सच है कि एक बार कलात्मक अभिव्यक्ति पा लेने के बाद वह किसी सामाजिक या ऐतिहासिक व्याख्याओं की

तुलना में कहीं अधिक गहरी समग्रता के साथ संवेदनशील और बहुआयामी बना देने में समर्थ होता है।

मेरे कहने का मतलब सिर्फ इतना है कि भाषा सिर्फ विचारों, विश्वासों और सिद्धान्तों को प्रकट करने का माध्यम नहीं होती बल्कि उसमें एक जाति के सांस्कृतिक बिंब, ऐतिहासिक स्मृतियों और पारंपरिक संस्कारों के मूल स्वर अनुगुंजित होते हैं। बहुत पहले आनंदकुमार स्वामी ने पश्चिम के 'ओरिएंटलिस्ट' विद्वानों की व्याख्याओं पर व्यंग्य करते हुए कहा था कि 'उन्होंने भारत की प्राचीन दर्शन, धर्मशास्त्रों और तत्त्व ज्ञान की पुस्तकों के बीज-शब्दों एवं प्रत्ययों के जो अनुवाद किये हैं, वे सिर्फ भ्रमों की धुंध पैदा करते हैं। इसका सीधा-सा कारण यह है, कि वे इन प्रत्ययों के सांस्कृतिक संदर्भ समझने में नितांत विफल रहे हैं। सच तो यह है कि इन अनुवादों को अस्वीकार करके ही इन ग्रंथों के मूल सत्य को जाना जा सकता है।'

यह उल्लेखनीय है कि भारतीय भाषाओं के जो सांस्कृतिक प्रत्यय यूरोपीय मानस के लिए इतने पराये और भ्रांतिमूलक हो जाते हैं, वे ही भारतीय साहित्य को एक समान जातीय संदर्भ प्रदान करते हैं। भारतीय साहित्य भले ही भिन्न भाषाओं में रचा जाता हो, उसके रचनात्मक स्रोत वेद, उपनिषदों के आध्यात्मिक प्रत्ययों और रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्यों में संगृहीत स्मृतियों में ही निहित हैं, जिसके कारण एक भारतीय भाषा में लिखी कविता और कहानी बिना किसी भूल या भ्रांति के दूसरी भाषा में इतनी सुगमता से कायाकल्पित हो जाती है यह तो मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव से कह सकता हूँ, कुछ वर्ष पहले 'गोरा' का अंग्रेजी अनुवाद पढ़ते हुए मुझे वह उपन्यास बहुत बोझिल और बनावटी जान पड़ा था... मुझे थोड़ी हैरानी ही हुई थी कि रवि बाबू जैसा लेखक ऐसी कमजोर कृति कैसे रच सकता था। किन्तु कुछ अंतराल के बाद जब सौभाग्य से इसी उपन्यास का हिन्दी अनुवाद पढ़ने को मिला, जो संयोगवश अज्ञेय ने किया था, तो अनायास उस पुस्तक के बारे में न केवल मेरी शंकाएँ दूर हो गयीं, बल्कि वह मुझे—जैसा मैं पहले कह चुका हूँ—बंगाल नवजागरण का सबसे सशक्त प्रतिनिधि कला-कृति जान पड़ा, जहाँ पहली बार भारतीय मनुष्य की स्वाधीन चेतना से साक्षात् होता है। ऐसा किस तरह संभव हो सका? इसका सीधा-सा उत्तर यह है, कि हिन्दी अनुवाद में वे समस्त सांस्कृतिक संदर्भ अपनी समूची प्राणवत्ता के साथ अवतरित हुए थे, जैसा उनका प्रयोग बंगला की मूल भाषा में हुआ था। उपन्यास के अंग्रेजी अनुवाद में जो बहसें इतनी बोझिल और सूखी जान पड़ती थीं, वही हिन्दी में एक पुरातन सभ्यता के बीच होने वाले वैचारिक आलोडन को इतनी जीवंत नाटकीयता और अर्थवत्ता प्रदान करती थीं।

मैं यहाँ इस बात पर इसलिए भी जोर डालना चाहूँगा कि हिन्दी के वर्तमान साहित्य को—उस पर होने वाले समस्त पश्चिमी प्रभावों के बावजूद—हजारों वर्षों से चले इन सांस्कृतिक संदर्भों से काट कर नहीं देखा जा सकता। यही नहीं, मैं कुछ आगे बढ़ कर यह भी जोड़ना चाहूँगा के पश्चिमी साहित्य और संस्कृति का प्रभाव हमारी सृजनात्मक ऊर्जा को समृद्ध और

व्यापक बनाने में उस सीमा तक उपयोगी हो सकते हैं, जिस सीमा तक हमारे साहित्य की धारा अपने परंपरागत स्रोतों से अनवरत प्रेरणा-शक्ति अर्जित करती है। यदि आज हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य की अमर कृतियाँ—गोदान, शेखर, त्यागपत्र, राम की शक्ति पूजा, मैला आँचल, अंधा युग आदि—हमारे भावबोध को कहीं इतने गहरे तक आलोडित करती हैं, तो इसलिए कि भक्ति काल के कवियों की भाँति उन्होंने हमारे भारतीय मानस के परंपरागत अंतर्संबंधों को एक नये पैटर्न में पुनः संयोजित करने का प्रयास किया, ताकि हम भारतीय मनुष्य की छवि को अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देख सकें।

यदि कोई मुझसे पूछे कि भारतीय संस्कृति के मर्म को कौन सा बीज शब्द सटीक ढंग से व्यक्त करता है तो मैं नितांत संशयहीन भाव से उसे 'अंतर्संबंधों की अंतहीन शृंखला' का नाम दे सकता हूँ। एक ऐसी शृंखला, जिसकी कड़ियाँ एक जैसी रहती हैं, किन्तु उनके आपसी संबंध हमेशा बदलते रहते हैं। सातत्य के बीच होने वाले परिवर्तन और परिवर्तनों के बीच अक्षुण्ण रहने वाला सातत्य। संस्कृति का यह मर्म भारतीय दर्शन, तत्त्वज्ञान और आध्यात्मिक अन्वेषण में तो प्रकट होता ही है, किन्तु साहित्य में उसका सबसे प्रत्यक्ष और प्रमाणित रूप दिखाई देता है। आत्म की अनात्म से जुड़ने की मर्मांतक आकांक्षा भारतीय महाकाव्यों में जितनी उत्कटता से उद्घाटित होती है, वही कालांतर में भक्ति काव्य की गहन अंतर्दृष्टि और आधुनिक काल की हिन्दी साहित्यिक संचेतना में दिखाई देती है। यदि 'महाभारत' में मनुष्य की नैसर्गिक प्रकृति के अँधेरे-उजाले पक्ष दिखाई देते हैं, तो 'रामायण' में उसकी सामाजिक मर्यादाओं के पारिवारिक अंतर्विरोध प्रकट होते हैं। स्वभावगत नैसर्गिकता और नैतिक मर्यादाओं को जोड़ने वाली कड़ी 'धर्म' की अवधारणा में अभिव्यक्त होती है, जो परम्परागत नैतिकता और आदिम आकांक्षाओं—दोनों से ऊपर है और दोनों को परिशोधित भी करती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय समाज में धर्म की यह चालक शक्ति किसी सूत्र, सिद्धान्त या लगे-बँधे फार्मूले में नहीं निरूपित की जा सकती... हर स्थिति में उसकी भूमिका एक जैसी नहीं रहती। यह चीज जहाँ एक तरफ धर्म की अवधारण को द्विधात्मक (ambiguous) बनाती है, वहाँ उसे खुला छोड़ कर बहु-अर्थीयता प्रदान करती है। 'महाभारत' के महाकाव्य की अद्भुत कलात्मक शक्ति खास इस बात में निहित है कि किसी कर्म को काले-सफेद, अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित के सरलीकृत ढाँचों में नहीं वर्गीकृत किया जा सकता। यहाँ तक कि गीता में कृष्ण का संदेश बहुत देर तक स्मृति में नहीं रहता, जिसके कारण 'धर्म-संकट' की स्थितियाँ बार-बार दुहराई जाती हैं, जिनका समाधान हर बार नये ढंग से किया जाता है।

धर्म की गरिमा का प्रभुत्व और उसके अर्थों की बहुलता भारतीय साहित्य को एक अद्भुत गतिशीलता प्रदान करती है। इससे हमें साहित्य-समय और समय के अंतर्संबंधों का अनूठा सत्य हाथ लगता है। हमें पता चलता है कि 'साहित्यिक समय' अपनी गत्यात्मकता में उससे बहुत भिन्न होता है, जिसे हम 'ऐतिहासिक समय' मानते आये हैं। ऐतिहासिक घटनाएँ

समय के प्रवाह में एक बार प्रकट होकर हमेशा के लिए विलुप्त हो जाती हैं; याद भी रहती हैं, तो विगत का अंग बन कर। इसके विपरीत साहित्य के सत्य का समय से संबंध एक नितांत दूसरे स्तर पर होता है। साहित्य की उत्कृष्ट रचनाएँ सुदूर अतीत में रची होने के बावजूद मनुष्य के हर 'वर्तमान' में एक नयी प्रासंगिकता लेकर पुनर्जन्म लेती हैं; अतीत में जन्म लेने पर भी वह विगत का अतिक्रमण कर लेती हैं और समय का एक ऐसा शाश्वत 'स्पेस' निर्मित करती हैं, जहाँ हर रचना एक-दूसरे की समकालीन होती है, चाहे उसके जन्म का समय और स्थान कभी भी हो, कहीं भी हो। इसका प्रमुख कारण यह है कि साहित्य का आत्यंतिक संबंध मनुष्य की आंतरिक प्रकृति से होता है, न कि उन सामयिक घटनाओं से जो सतह के ऊपर से गुजर जाती हैं।

मैं यदि साहित्य के इस सर्वविदित सत्य को दुहराने की जरूरत महसूस कर रहा हूँ, तो इतिहास या ऐतिहासिक घटनाओं का महत्त्व कम करना नहीं, बल्कि इसलिए कि भारतीय मनीषा में इतिहास की वह आक्रामक चालक-शक्ति कभी नहीं रही, जैसा हम पश्चिमी संस्कृति में देखते हैं। इतिहास के इस प्रभुत्व के कारण ही मैक्समुलर जैसे 'ओरिएंटलिस्ट' विद्वानों ने भारत के अतीत को उसके वर्तमान से इस तरह विभाजित कर दिया, जैसे इन दोनों के बीच साहित्य और संस्कृति के कोई संबंध-सूत्र न हों। उनकी दृष्टि में भारत का वर्तमान उसके 'गौरवपूर्ण' अतीत का महज एक भ्रष्ट संस्करण मात्र था, जिसका अपना कोई भविष्य नहीं था, सिवा इसके कि वह यूरोपीय साहित्य और संस्कृति में अपने को ढाल कर स्वयं को अपने अतीत से हमेशा के लिए मुक्त कर सके। अंग्रेजी शासन-तंत्र भारतीय मनीषा में जो फाँक अंकित कर गया था, वह आज एक नासूर की तरह कायम है, जिसने उन समस्त स्रोतों को सूखा और बंजर बना कर छोड़ दिया है, जिनसे एक समय में भारतीय साहित्य और भाषाएँ अपनी ऊर्जा का नवीकरण करती थीं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य—इन अवरोधों के बावजूद—यदि निरंतर अपने को नयी परिस्थितियों में ढालने में समर्थ होता रहा, तो इसके दो प्रमुख कारण मुझे दिखाई देते हैं। दोनों अलग-अलग होते हुए भी एक-दूसरे से अंतर्गुम्फित हैं। हिन्दी साहित्य में खड़ी बोली का एक वयस्क साहित्यिक भाषा के रूप में प्रसार मेरी दृष्टि में एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक घटना थी। शायद ही किसी अन्य भारतीय भाषाओं मे इस तरह का 'भाषाई मोड़' दिखाई देता है। कौन अनुमान लगा सकता है कि जिस भाषा में आधुनिक हिन्दी कहानी और उपन्यास का जन्म और विकास हुआ, वह मुश्किल से डेढ़ सौ वर्ष से अधिक नहीं है। आधुनिक हिन्दी कविता ब्रजभाषा और अवधी से अपने को मुक्त करके एक नितांत नये मुहावरे में, नयी संवेदनाओं, अनुभवों और आकांक्षाओं को व्यक्त करने की शक्ति जुटा पायेगी, यह केवल ऐसी भाषा में संभव हो सकता था, जिसमें बाह्य प्रभावों को अपने में समाहित करने की क्षमता और लचीलापन दोनों ही हों और यह चीज मुझे उसके विकास के दूसरे कारण की ओर ले जाती है—हिन्दी का अपनी

प्रादेशिक सीमाओं से ऊपर उठ कर 'भारतीय' होने की सांस्कृतिक अंतःप्रेरणा, जिसके कारण विदेशी सत्ता के विरुद्ध स्वतंत्रता संग्राम में सहज रूप से 'राष्ट्रीय भाषा' बनने का गौरव प्राप्त हो सका। यह अकारण नहीं कि उस समय दूसरी भाषाओं के शीर्षस्थ साहित्यकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्यम भारती आदि अनेक लेखक हिन्दी को राष्ट्रीय अस्मिता और एकता का एक केन्द्रीय प्रतीक मानते आये थे।

आज जब हम हिन्दी साहित्य के वर्तमान और भविष्य पर विचार कर रहे हैं तो हमें भारतीय मानस के इन तत्त्वों को नहीं भुला देना चाहिए जो समय और इतिहास की खूँटी पर न बँधे होकर संस्कृति की उन अंतःप्रक्रियाओं द्वारा अनुप्राणित होते हैं, जिन्हें युंग और पश्चिम के मनोवैज्ञानिक आदिम या archetypal तत्त्व कहते हैं—ऐसे प्रागैतिहासिक मिथक और प्रतीक, जो एक जाति के अवचेतन में वास करते हैं—एक संस्कृति के कालातीत अवयव, जो हर युग में बाह्य दबावों का सामना करने के लिए अपने को पुनर्गठित कर लेते हैं। पुनर्गठन की इस प्रक्रिया में भाषा और साहित्य का गहरा योगदान रहता है। भाषा में उसकी चिरंतनता और साहित्य में उसकी गतिशीलता देखी जा सकती है, यह महज संयोग नहीं था कि जिस भाषा में सत्य, अहिंसा, आत्म, शून्य, मुक्ति जैसे प्रत्यय इतना केन्द्रीय महत्त्व रखते हैं, वे ही कालांतर में बुद्ध के निर्वाण दर्शन, गांधी के सत्य-आग्रह और अहिंसा-प्रेम, श्री अरविंद की आध्यात्मिक गूढ़ अंतर्दृष्टि में एक नयी धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक अर्थवत्ता प्राप्त कर लेते हैं। हिन्दी भाषा और साहित्य इन दोनों ध्रुवों—एक तरफ परंपरागत प्रतीकों और मूल्यों का सातत्य और दूसरी तरफ परिवर्तनशील मानवीय संवेदनों की व्यापकता—के बीच अपना विशिष्ट और बहुमुखी पहचान बना सका था।

यह एक ऐतिहासिक विडंबना ही मानी जायगी कि स्वतंत्रता आंदोलन के ज्वार में हिन्दी को जो राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हुआ था, वह स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद धूमिल पड़ता गया। यह हिन्दी का दुर्भाग्य ही नहीं, समूची भारतीय संस्कृति की त्रासदी थी, कि दो सौ वर्षों के दौरान जिस विदेशी सत्ता ने हमारे शिक्षण-अध्ययन और चिंतन के जिन स्वदेशी स्रोतों को इतनी बर्बरता से नष्ट किया था, उन्हें हमारे जातीय जीवन में पुनर्जीवित करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया, उलटे हमारी मानसिकता पर राजकीय संस्थाओं और शिक्षा-प्रणाली का आतंककारी प्रभुत्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया, जो एक समय में विदेशी राज्य-सत्ता की प्रशासनिक सुविधाओं के लिए निर्मित की गयी थीं, स्वाधीन भारत में पराधीन संस्कृति का यह एक अनुपम उदाहरण था। आधुनिकता के उन्माद के बावजूद हमारे सार्वजनिक जीवन में जो शून्यता, दरिद्रता और दिशाहीनता दिखाई देती है, उसके कारण खोज पाना मुश्किल नहीं है।

एक प्राचीन सभ्यता की प्राणवत्ता उसके सांस्कृतिक प्रतीकों और जीवनदायी आस्थाओं में संचारित होती है, जो एक समय में हमारे चिंतन, सृजन और दैनिक व्यावहारिक जीवन को एक अर्थवत्ता प्रदान करते थे; जब उनकी जीवंत समग्रता खंडित होकर छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट

जाती है, तो परंपरागत संस्कारों के कारण उनकी नामलेवा पूजा तो होती है, किन्तु समाज को उससे किसी तरह की सृजनात्मक प्रेरणा अथवा आत्मनिर्भरता की आश्वस्ति प्राप्त नहीं होती। हम अपने ही देश में आत्मनिर्वासित प्राणियों की तरह जीने के लिए अभिशप्त हो जाते हैं। पिछले वर्षों में हमारे जीवन की नैतिक-मर्यादाओं और चिंतन-अध्ययन के स्रोतों पर जिस तरह अंग्रेजी भाषा और शिक्षा का वर्चस्व बढ़ा है, वह इसका स्वयं सटीक प्रमाण है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बहुत अवसाद भरे शब्दों में हमारी सांस्कृतिक दुर्दशा का वर्णन किया है, ''अंग्रेजी भाषा ने संस्कृत का सर्वाधिकार छीन लिया है। आज भारतीय विद्याओं की जैसी विवेचना और विचार अंग्रेजी भाषा में है, उसकी आधी चर्चा का भी दावा कोई भारतीय भाषा नहीं कर सकती। यह हमारी सबसे बड़ी पराजय है। राजनीतिक सत्ता के छिन जाने से हम उतने नतमस्तक नहीं हैं, जितने अपने विचार की, तर्क की, दर्शन की, अध्यात्म की अपनी सर्वस्व भाषा छिन जाने से अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हम अपनी ही विद्या को अपनी बोली में न कह सकने के उपहासास्पद अपराधी हैं। यह लज्जा हमारी जातीय है।''

जिसे द्विवेदी जी ने 'उपहासास्पद अपराध' कहा है, उसके लिए मेरी दृष्टि में भारतीय संभ्रांत शिक्षित वर्ग सबसे अधिक जवाबदेह रहा है, एक तरफ इस वर्ग को शिक्षा और ज्ञान अर्जित करने की समस्त सुविधाएँ प्राप्त हैं, दूसरी ओर वह उन सब कर्तव्यों और दायित्वों के प्रति उदासीन हैं, जो एक बुद्धिजीवी वर्ग अपने समाज में सम्पन्न करता है। अपनी और साहित्य की जिन जड़ों से उसके संस्कार पोषित होते हैं, वह धीरे-धीरे उनसे कटता जाता है और एक कृत्रिम परिवेश में रहने लगता है, 'आत्म-ज्ञान रहित ज्ञान' का बंजर मरुस्थल, जहाँ आत्मचेतना के विस्तार की कोई संभावना नहीं, इसका दुष्परिणाम हमारे सामने है... हमारे हिन्दी भाषी समाज में, जिसका गद्य भारतेंदु युग में एक खुली और गहरी आलोचनात्मक मेधा से सम्पन्न था, आज वहाँ एक खाली और छद्म क्रांतिकारी रेह्टरिक के अलावा किसी तरह की वयस्क और विवेकपूर्ण चेतना नहीं दिखाई देती। हिन्दी साहित्य की रचनात्मक संवेदनाएँ अपने में इतना समृद्ध होने पर भी केवल एक छोटे वर्ग तक सीमित रह गयी हैं। हिन्दी भाषाई समाज की लोक चेतना का विस्तार और परिष्कार करने में उनकी भूमिका नगण्य जान पड़ती है। क्या हम इन दोनों के बीच फैले अंतराल को पाट कर एक व्यापक सांस्कृतिक चेतना में संयोजित कर पाने में सफल हो पायेंगे, आने वाले समय में हमारे सामने यही सबसे बड़ी चुनौती है।

*(*हिन्दी साहित्य सम्मेलन के 56 वें पुणे अधिवेशन के सभापति का भाषण।)*

हमारा आत्म बिम्ब : हिन्दी साहित्य और संस्कृति के दर्पण में

- रमेशचन्द्र शाह

गोरखनाथ की नगरी में अपने समानशील सुहृदों के सम्मुख कुछ कहने के लिए उपस्थित हूँ, इसे एक सौभाग्य-संयोग ही मानता हूँ। संयोग भी अकारण घटित नहीं होते : गोरखपुर मैं कभी रहा नहीं, एक-दो बार गुज़रा भर हूँ यहाँ से—उस तरह कोई प्रत्यक्ष कारण भी नहीं है इस स्थान के साथ कोई गहरा जुड़ाव या रागबन्ध अनुभव करने का—फिर भी मैं सम्प्रति अपने को एक विचित्र-सी भाषाविष्ट-रागाविष्ट स्थिति में पा रहा हूँ तो इसका सम्बन्ध मेरी स्मृति से ही होना चाहिये—ऐसी स्मृति से, जो उस तरह मेरी नितांत अपनी व्यक्तिगत स्मृति होते हुए भी अकेले सिर्फ मुझी तक सीमित नहीं हो सकती—जिसमें, आप सभी का—कहूँ, लाखों मेरे देशवासियों का भी साझा है। बड़ी मनोरंजक घटना एकबार मेरे साथ घटी—शायद भोपाल में ही, या अन्यत्र किसी संगोष्ठी में। 'साहित्य और समाज' विषय पर बोलते हुए अचानक अनायास ही मेरे मुख से यह वाक्य निकल गया कि 'मैं तो गीताप्रेस, गोरखपुर का स्नातक हूँ'। कहकर मैं स्वयं ही एकक्षण को अचरज से अवाक् हो गया कि यह मैं क्या कह गया?—मैं, जो विज्ञान में प्रयाग विश्वविद्यालय का, और अंग्रेजी में आगरा विश्वविद्यालय का स्नातक हूँ। किन्तु, बाद में सोचने पर मैंने पाया कि वह स्वतःस्फूर्त उद्‌गार यूँ ही नहीं उपजा था : वह एक ऐसे तथ्य का अनिवार्य मर्मोद्‌घाटन था जो उपर्युक्त दोनों तथ्यों से कहीं अधिक पुराना गहरा और, इसलिए मेरे अन्तर्जीवन के स्वरूप-निर्धारण में निर्णायक योग देने वाला था। भारतीय वाङ्मय—अतएव भारतीय संस्कृति में सर्वप्रथम मेरी संवेदना और कल्पना-शक्ति को दीक्षित करने का श्रेय 'कल्याण' के उन अंकों और विशेषांकों को ही जाता है जो मेरे बाल्यकालीन जीवनानुभवों में खासी बड़ी जगह घेरते थे।

यह भी एक संयोग ही है कि यहाँ आने से पूर्व मैं स्व. निर्मल वर्मा के निबन्धों से—कहना चाहिए एक कृती साहित्यकार बन्धु के अत्यन्त मार्मिक और विचारोत्तेजक संस्कृति-चिंतन से घिरा हुआ था। अपने व्याख्यान के लिए यह जो विषय मुझे सूझा है, उसी सिलसिले में सूझा। ''हर साहित्यिक रचना''—निर्मल जी का कहना है—''हमारे भीतर के दरवाजों को खोल देती है, जिनकी चौखट के पीछे न जाने कितने पूर्वजों की स्मृतियाँ कान लगाए खड़ी रहती हैं, ताकि वे अपने को दुबारा से हमारे शब्दों में सुन सकें।''... यह कितनी सच्ची और मर्मभरी बात है— मेरा रोम-रोम

इसकी गवाही देता है : न केवल 'कल्याण' के उन विशेषांकों के माध्यम से वाल्मीकि रामायण, महाभारत, उपनिषद और पौराणिक वाङ्मय का पठनानुभव, प्रत्युत कालान्तर में संस्कृत की सीध ी उत्तराधिकारिणी मध्यकालीन भाखा और आधुनिक हिन्दी के कृतिकारों–विशेषकर गुप्तजी, प्रसाद, निराला, अज्ञेय और निर्मल वर्मा को पढ़ने का अनुभव। प्रस्तुत व्याख्यान में मैं इन्हीं थोड़े से उदाहरणों के निमित्त से अपनी बात आपके सामने रखने की कोशिश करूँगा।

मैंने हिन्दी साहित्य के साथ हिन्दी संस्कृति पद का भी प्रयोग किया है। जानते-बूझते, क्योंकि जैसा अज्ञेय ने अनुभव किया था, "हिन्दी भारत के हृदय को समझने की कुंजी है, भारत की समग्र अस्मिता को वाणी देने वाली विभूति है।" ध्यान देने की बात यह भी है कि अज्ञेय– जो हिन्दी साहित्य में आधुनिक भावबोध के अग्रदूत बन कर आए, वे आधुनिकता की बात को भी हिन्दी की ही विशिष्ट विभेदक लक्षण सरीखी बात बनाकर ही अपनी जीवनव्यापी चिन्ता को परिभाषित करते हैं : कहते हैं :

...मेरी दृष्टि में हिन्दी सदा से आधुनिक रही है। हिन्दी का देश ही भाषाओं और संस्कृतियों के संगमों का देश है। हिन्दी उन संगमों से ही विकसित हुई है। अतः वह संगमों की भाषा है, विद्रोहों की भाषा है। इसी भाषा ने सारे देश में भारतीय संस्कृति को बचाए रक्खा, भारतीयता के बोध को जीवित रखा। ...वह विकासमान संस्कारों और पनपते विद्रोहों की भाषा रही है, किसी क्षेत्र की साम्प्रदायिक भाषा नहीं। कभी आगरा-मथुरा को, कभी कलकत्ता-बम्बई को और कभी दिल्ली को केन्द्र बनाकर वह सारे देश के संस्कारों और परिवर्तनों का नेतृत्व करती रही है। आधुनिकता का संस्कार सदा उसके साथ रहा है। हिन्दी का यह परम्परागत दायित्व रहा है कि वह जिस अर्थ में आधुनिक थी, उसी अर्थ में आधुनिक बनी रहे। (अज्ञेय, अद्यतन, पृ.65)

किन्तु इस हिन्दी क्षेत्र की एक बहुत बड़ी व्याधि सबकुछ के राजनीतिकीकरण की है जो हमारी सांस्कृतिक सहज बुद्धि को एक अरसे से अपदस्थ-सी किये हुए है। आप लोग, मैं समझता हूँ, निराला से प्रेरणा ग्रहण करके हिन्दी जाति और हिन्दी संस्कृति की बात पर सर्वाधिक बल देने वाले डॉ. रामविलास शर्मा के विचारों से परिचित होंगे। आपने देखा होगा कि किस तरह जहाँ तक इतिहास और परम्परा का प्रश्न है, हिन्दी क्षेत्र की सांस्कृतिक अस्मिता को लेकर डॉ. शर्मा काफी आश्वस्त दीखते हैं; इतना ही नहीं, वे उसके जरिये समूचे देश के नवनिर्माण का स्वप्न भी निराला का ही अनुसरण करते हुए देखते और दिखाते हैं। किन्तु जो बात रामविलासजी की चिन्ता का विषय नहीं बनती और श्रीलाल शुक्ल सरीखे परवर्ती रचनाकार के सिरपर चढ़कर बोलती है, वह है–"हिन्दी क्षेत्र की सांस्कृतिक चिंता के ऊपर राजनैतिक चेतना का हावी हो जाना", जिसका दुष्परिणाम स्वयं श्रीलाल शुक्ल के कथनानुसार "बीसवीं शताब्दी में हिन्दी क्षेत्र के क्रमिक सांस्कृतिक क्षरण में हुआ।" उचित होगा कि इस सम्बन्ध में भी अज्ञेय और निर्मल वर्मा सरीखे विरल कोटि के विचार-समर्थ रचनाकारों का दृष्टिकोण भी लगे हाथ समझ लिया जाय। 'स्रोत और सेतु' नामक अपनी पुस्तक में अज्ञेय एक जगह कहते हैं–

''जीवन के सम्पूर्ण राजनैतिकीकरण के दुष्परिणामों को गाँधी जी अच्छी तरह समझते थे। इसीलिये उनका राजनैतिक चिंतन सदैव राजनीति को व्यापक धार्मिक और अध्यात्मिक सन्दर्भों से भी जोड़ता रहा। शुद्ध राजनीति के मुहावरे में उन्होंने अपने को कभी नहीं बँधने दिया।''

यह बात हिन्दी क्षेत्र और आज के हिन्दी साहित्यिक परिवेश के सन्दर्भ में कितनी प्रासंगिक है, यह सोचने की बात है। देखिए अज्ञेय इसी सिलसिले में इसी प्रसंग में से आगे क्या बात निकालते हैं। वे कहते हैं–

''मैं तो समझता हूँ कि आज के बौद्धिक के लिए इसमें एक बड़ा आदर्श और गहरी शिक्षा निहित है। बौद्धिक स्वातंत्र्य का दावा न केवल शुद्ध राजनैतिक दावा नहीं है; बल्कि हमें उसे राजनैतिक दावा बनने भी नहीं देना चाहिये। यह दावा राजनैतिक सन्दर्भ से बड़ा है, क्योंकि स्वाधीनता राजनैतिक स्वतन्त्रता से बड़ी है। बौद्धिक को, और विशेष रूप से सर्जनशील कलाकार को केवल राजनैतिक स्वतंत्रता का दावा न करके कला जगत् की स्वाधीनता का दावा करना है– जो दावा और जिसके लिए किया गया संघर्ष राजनीति से बड़ा हो जाता है।'' (अज्ञेय, 'स्रोत और सेतु', पृ. 130-134)

अब, लगे हाथ इसी सन्दर्भ में स्व. निर्मल वर्मा के एतद्विषयक विचारों को भी देख लिया जाय कि वे किस तरह हिन्दी की प्राणभूत इस 'कल्चरल कॉमनसेंस' को नए संदर्भों में, नई चुनौतियों से जूझते हुए आगे बढ़ाते हैं जिसे हम स्वयं खड़ी बोली हिन्दी साहित्य के विकास-सूत्र में क्रमशः राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, निराला और अज्ञेय के कृतित्व में कार्यरत देखते हैं। याद करिये 'भारत-भारती' के उस आह्वान को– ''हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी/आओ-विचारें साथ मिलकर ये समस्याएँ सभी।' याद करिये उसमें निहित आत्मालोचना के स्वर को भी–''गौरव जताने में यहाँ उत्साह का लगता पता/बस बाद में है वाग्मिता, पर-अनुकरण में सभ्यता।'' यह बीसवीं सदी की शुरुआत में आपके राष्ट्रकवि का कहना है–कैसे दीखती है अपनी आत्मछवि आपको इन पंक्तियों में? अब लगभग सत्तर साल बाद–सदी के एकदम दूसरे छोर पर निर्मल वर्मा इस सम्बन्ध में क्या कह रहे हैं, वह भी सुन लीजिये–अपने इस दूसरे आत्मबिंब को आप उस पहले वाले आत्मबिंब से मिलाकर देखिये। निर्मलजी कहते हैं :

''क्या हम भारतीय संस्कृति को इस टूटन और बिखराव से बचा सकते हैं''? इससे मेरा अभिप्राय उन सबसे है जो अपने को इस संस्कृति का उत्तराधिकारी मानकर उसकी गौरव-गाथा तो गाते हैं किन्तु उसके प्रति हमारा जो ऋण है, उसे चुकाने से कतराते हैं। मेरे निबन्धों की केन्द्रीय चिन्ता इस प्रश्न के साथ जुड़ी है। पिछले वर्षों में जिस बौद्धिक अराजकता, नैतिक सनकीपन और आत्मघृणा के वातावरण में हम जी रहे हैं, उसमें यह प्रश्न अतिरिक्त महत्त्व प्राप्त कर लेता है। मैंने यदि साहित्य की भावभूमि पर इस प्रश्न को अपनी चिंताओं के केन्द्र में रखना

उचित समझा तो इसलिये, कि साहित्य भाषा का वह सृजनात्मक क्षेत्र है, जिस पर चलकर हम अपनी स्मृति के मूलाधारों की ओर लौटते हैं।''

'स्मृति के मूलाधारों' की ओर लौटने की यह बात, अपनी संस्कृति के प्रति ऋणशोध से कतराने की यह आत्मालोचना हमें प्रसाद, निराला और अज्ञेय में भी परिलक्षित होती है। 'काव्य और कला' शीर्षक अपनी विवेचना में प्रसाद जी का जो सच्चे अर्थों में प्रगतिशील, किन्तु सांस्कृतिक आत्मविश्वास से सम्पन्न स्वर है, वह क्या जताता है? निर्मल वर्मा के उपर्युक्त आत्म-बोध से उसका कहीं कोई मेल नहीं दिखाई देता क्या? प्रसाद जी के शब्दों में :

''मिश्रित विचारों के कारण हमारी विचारधारा अव्यवस्था के दलदल में पड़ी रह जाती है। नई चेतना, पाश्चात्य प्रभाव हमारी निरूपायता ही नहीं, अनिवार्यता भी है। पर इस सचेतनता के फलस्वरूप हम अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्तन क्यों न करें? हमारे ज्ञान-प्रतीक दुर्बल तो नहीं हैं।''

अर्थात्, दुर्बलता जो है हमारी, वह हमारे 'ज्ञान-प्रतीकों' की नहीं, बल्कि इतिहास-बोध की कमी और सामुदायिक एकता-बोध और कर्मण्यता की कमी से उपजी हुई दुर्बलता है, यह विवेक प्रसाद जी के चिंतन में ही नहीं, सर्जनात्मक कृतित्व में भी लगातार सक्रिय दीखता है। निर्मल जी ने जिस बौद्धिक अराजकता, नैतिक सनकीपन और आत्मघृणा के वातावरण की चर्चा उपर्युक्त निबंध में की है, उसका किंचित् पूर्वाभास क्या आपको प्रसाद जी के नाटकों और उपन्यासों में भी नहीं झलकता दिखलाई देता? प्रसाद के नाटकों में हमें इतिहास का गौरव-बोध ही नहीं, उसकी कुंठा, ऊब और त्रास का भी अत्यन्त विचलित कर देने वाला साक्षात्कार मिलता है। षड्यंत्र, विश्वासघात और रोंगटे खड़े कर देने वाला नैतिक दिवालियापन। 'स्कंदगुप्त' में पर्णदत्त का मखौल उड़ाते नागरिकों को ही देख लीजिये। नैतिक सनकीपन की वह पराकाष्ठा नहीं तो क्या है? धीरोदात्त नायक स्कंदगुप्त का अंत भी ट्रैजिक नहीं तो क्या है? तो, आदर्श और यथार्थ की पराकाष्ठाओं के बीच झूलता यह कैसा आत्मबिंब है जो हमें प्रसाद के कृतित्व के आईने में झाँकने पर दिखाई देता है। याद करिये, निराला के जीवन का वह प्रसंग, जहाँ वे हिन्दी का पक्ष लेकर गाँधी और नेहरू दोनों से भिड़ जाते हैं और दोनों को ही खरी-खोटी सुनाने से नहीं चूकते। पंडित नेहरू से कहते हैं—''क्या आप जानते हैं कि हिन्दी के महत्त्व की दृष्टि से प्रसाद कितने महान् हैं'' अगर हिन्दी की सच्ची जानकारी आप में होती तो उस भाषा को कितना बल मिलता? जहाँ सुभाष बाबू अपने सभापति के भाषण में शरश्चन्द्र के निधन का जिक्र करते हैं, वहाँ क्या वजह है कि आपकी जुबान पर प्रसाद का नाम तक नहीं आता'' पंडित नेहरू चूँकि गाँधी जी की अपेक्षा संस्कृति के प्रति ज्यादा संवेदनशील माने जाते थे, इसलिए निराला ने उन्हें और भी ज्यादा आड़े हाथों लिया, किन्तु गाँधी जी को, 'जो गुजराती साहित्य में प्रतिष्ठित हो चुके थे पण्डित नेहरू की तरह सिर्फ और सिर्फ इंडो-आंग्लीय साहित्य के अंतर्गत नामोल्लेख के पात्र भर नहीं थे। स्वयं गाँधी जी को भी उन्होंने नहीं बख्शा। साफ दो टूक जबाव-तलबी का

नमूना देखिए उनका? कहते हैं—''बनारसीदास चतुर्वेदी कुछ दिन आपके यहाँ रहे और कुछ दिन रवीन्द्रनाथ के यहाँ, तो यहीं आपके लिए उनकी सबसे बड़ी साहित्यिक योग्यता हो गई? आपने राष्ट्रकवि की 'साकेत' की भाषा को मुश्किल कहा है। तब फिर मेरे 'तुलसीदास' की भाषा का क्या होगा?''

परन्तु 'तुलसीदास' की भाषा का ही नहीं, कथ्य का भी क्या हुआ—यह प्रश्न, कल्पना करिये, निराला आज होते तो वे किससे पूछते? अज्ञेय ने इस कविता की जो व्याख्या की है, जिस तरह उसके विलक्षण सांस्कृतिक अर्थगौरव को रेखांकित किया है, उसे देखिए : क्या यह अकारण है कि निराला के परवर्ती युग के सबसे महत्त्वपूर्ण कवि अज्ञेय के लिए निराला की यह कविता सर्वोच्च महत्त्व की अधिकारिणी हुई ? यह भी क्या अकारण है कि सबसे अधिक उपेक्षा भी इसी काव्य की हुई—स्वयं उनके हाथों, जो निराला को अपने काम का बनाने के लिए आकाश-पाताल एक करते रहे हैं?

दरअसल, निराला-काव्य के पीछे कार्यरत जो सबसे गहरी प्रेरणाएँ हैं जो उनकी एकदम आरम्भ की नीतियों से लेकर अंत तक बराबर उनके यहाँ देखी जा सकती है, उन्हें भी न केवल नजरअंदाज करने की, बल्कि एक तरह की दुर्व्याख्या या अपव्याख्या में घटा देने की कोशिश साहित्यिकों के ही एकसमुदाय द्वारा निरन्तर की जाती रही है। 'आराधना' और 'अर्चना' के गीतों को अस्वस्थता के कारण उत्पन्न 'रिग्रेशन' निरूपित किया गया था मानो यह निराला का सहज-स्वाभाविक स्वर न होकर एक मनोवैज्ञानिक रुग्णता हो—कवि के भीतर दबा हुआ एक पिछड़ा और प्रगतिद्रोही संस्कार, जिसे अनदेखा करना ही न्यायसंगत हो। कहना न होगा कि ऐसी अनर्गल अनर्थकारी दृष्टि अपनाकर हम न केवल निराला के विरूद्धों का सामंजस्य करने वाले कविकर्म से उसकी सम्पूर्णता में प्रतिकृत और लाभान्वित होने से खुद को वंचित कर लेते हैं, बल्कि अपनी ज्ञान परम्परा और सृजन परम्परा से भी हमारा सम्बन्ध एक तरह के बाँझपन का शिकार बन जाने को अभिशप्त हो जाता है : जिस ज्ञान-परम्परा और सृजन-परम्परा के स्रोत से सीधा रचनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने तथा उसके रास्ते के अवरोधों की सही पहचान और सही प्रतिकार-क्षमता के कारण ही निराला निराला हैं। तनिक देखें कि चित्रकूट में निराला के तुलसीदास को जो विज़न दिखाई देता है, वह क्या है ?

''कहता प्रति जड़, जंगम जीवन !
भूले थे अब तक बन्धु प्रमन ?
यह हताश्वास मन भार श्वास-भर बहता;
तुम रहे छोड़ गृह मेरे कवि,
देखो यह धूलि-धूसरित छवि,
छाया इस पर केवल जड़ रवि खर दहता''

यह 'धूलि-धूसरित छवि' क्या है ? इसी भारत के नभ के प्रभापूर्य और शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य' की ही विडम्बना न, जिस पर अब केवल 'जड़ रवि' 'खर दहता' है, जहाँ 'उदरम्भरिजन' केवल दुःख देकर जाते हैं और जहाँ स्मृति की पृथ्वी' क्षण-क्षण असुरों से पददलित होते रहने को अभिशप्त हैं। तुलसीदास जैसे इसी मरुप्रदेश को 'सम्यक् स्मृति' से पुनर्जीवित करने को आए हों, इस तरह वह धूलि-धूसरित छवि उनका आह्वान करती है।

अब देखिये—देश तो निराला की इस कविता की शब्दावली में पहले ही 'हत-बल' हो चुका था—वर्णाश्रम-व्यवस्था की उस घोर ग्लानि और विडम्बना के चलते—जहाँ नाम मात्र के क्षत्रिय और चाटुकार द्विज कब के स्वधर्म से च्युत हो चुके हैं और बाकी लोगों की हालत यह है कि 'वे ... चरण-वरण वस वर्णाश्रम-रक्षण के'। इसी अन्धेपन और आत्मघाती संवेदनहीनता का परिणाम यह गुलामी की 'छाया' है; उसी 'तम का आसव' पी-पीकर सब आत्मविस्मृत हो चुके हैं। तब क्या उपाय है इस आत्मविस्मृति के अंधकूप से उबरने का, अपने सांस्कृतिक आत्मविश्वास को पुनः उपलब्ध करने का? कवि निराला का उत्तर उस कविता में है : 'जीवन के प्रखर ज्वार में बहते हुए सत्य मार्ग पर स्थिर रहकर विरोध से द्वन्द्व समर की चुनौती को स्वीकार करना।' तुलसीदास, यानी निराला के 'कल्चर हीरो' और आदर्श कवि तुलसीदास यह चुनौती स्वीकार करते हैं :

''करने को ज्ञानोद्धत प्रहार—
तोड़ने को विषम वज्र-द्वार;
उमड़े भारत का भ्रम अपार हरने को''

परवर्ती कवियों के लिए निराला से जो सबसे मूल्यवान् सीखने की चीज थी वह यही थी—अपनी भाषा, और अपनी संस्कृति से फलप्रद सम्बन्ध बनाने के लिए कितनी लम्बी और गहरी साधना चाहिये, कितना सहज आस्थावान् संघर्ष भी चाहिए उसके साथ, उससे ठीक-ठीक अपने मन की बात कहलवाने के लिए—इसका प्रत्यक्ष वस्तु-पाठ है निराला का कविकर्म। ध्यान देने की बात है कि यह रूढ़ि-पालक और सुरक्षा-प्रिय आस्था नहीं है, बल्कि जोखम उठाने वाली और जोखम से ही निखरने वाली विद्रोही आस्था है। ऐसे ही कवि को ('गीतिका' की भूमिका से) यह कहने का सच्चा-पूरा अधिकार था कि 'खड़ी बोली की संस्कृति जब तक संसार की ऊँची से ऊँची सौन्दर्य-भावनाओं से युक्त नहीं होगी, वह समर्थ न होगी। उसकी सम्पूर्ण प्राचीनता जीर्ण है।''

अज्ञेय और निर्मल वर्मा सरीखे लेखकों का हिन्दी को योगदान निराला की इस अन्तर्दृष्टि के आलोक में भी देखा जा सकता है— देखा जाना चाहिये। यह अकारण नहीं है, जैसा कि हमने पहले भी इंगित किया था कि अज्ञेय आधुनिकता की बात को हिन्दी की बात बनाकर ही अपनी जीवनव्यापी चिंता का आरम्भ करते हैं। दूसरे शब्दों में इसे यों कहें कि हिन्दी भाषा पर और हिन्दी में विचार करते हुए ही अज्ञेय भारत में आत्मविश्वासपूर्वक आधुनिक होने का अर्थ और

दायित्व समझते और समझाते हैं। इसलिए, कि उनका यह दृढ़ विश्वास है कि 'हिन्दी सदा से यही करती आई है : अपने स्वभाव और स्वधर्म से ही वह आगे देखने वाली भाषा है।'' ध्यान देने की बात है कि संस्कार और संवेदना के बीच के अन्तर की बात भी पहले-पहल अज्ञेय ने ही उठाई थी, जो नया आत्मबिम्ब पाने के लिए अनिवार्य थी। 'इशारे जिंदगी के' शीर्षक उनकी एक बहुचर्चित कविता यहाँ पर मुझे याद आ रही है—जिसमें कवि 'संस्कार की रंगीन पट्टियों' का उल्लेख करता है, जो जिन्दगी के इशारों को, उसकी नई जीवनदायी चुनौतियों को देखने नहीं देती है। उन्हें तो खुली संवेदना ही लक्षित कर सकती है। संस्कार और नई संवेदना का सम्बन्ध लचीला और जीवन्त बना रहे, यही कवि को इष्ट है। अन्यथा—इस जीवंत क्रिया-प्रतिक्रिया के अभाव में संवेदना-वियुक्त संस्कार एक 'साँचे ढला समाज' बन जाता है, एक 'सुघर नीरन्ध्र मृषा' में बदल जाता है, जिसकी तुलना में खुली संवेदना का 'खण्डित सत्य'—और 'कुंठारहित इकाई' कहीं अधिक रचना-संभव और श्रेयष्कर है—अज्ञेय के ही शब्दों में।

यहाँ आप 'शेखर एक जीवनी' उपन्यास को याद करें : क्या शेखर की स्वातंत्र्य की खोज भी उसके स्रष्टा की ही तरह टूटती हुई नैतिक रूढ़ियों के बीच नीति के, नैतिकता के मूल स्रोत की ही खोज नहीं थी? अज्ञेय ने स्वयं एक जगह लिखा है कि ''निर्णय करने की चरम अनिवार्यता के क्षण में हर व्यक्ति अकेला होता है और उस अकेलेपन में वह क्या करता है, इसी में उसके आत्मिक धातु की कसौटी है।'' किन्तु व्यक्ति के आत्मिक धातु की यह कसौटी वस्तुतः उसकी जातीय परम्परा के केन्द्रीय मूल्यों की भी कसौटी है, यह अज्ञेय उत्तरोत्तर पहचानते गए। इसी पहचान के बूते वे अस्तित्ववादी मान्यता को उलटकर मृत्यु को भी प्रतिष्ठित कर सके। यही कारण है कि वे आधुनिकता और भारतीयता के बीच कोई बुनियादी विरोध नहीं देखते। अज्ञेय की लड़ाई दरअसल हमारे परिवेश में व्याप्त उस प्रश्नविहीन उदासीनता से थी जो संवेदना को अनावश्यक बना देती है और जीवंत परम्परा को भी पथरा कर रख देती है।

अज्ञेय यह भी पहचानते हैं कि पश्चिम से हम प्रभावित ही नहीं हुए, हमने पश्चिम को प्रभावित भी किया है। आधुनिक होने का अर्थ पश्चिम की नकल नहीं है। कुल मिलाकर अज्ञेय का—आलोचक राष्ट्र की परिकल्पना करने वाले अज्ञेय का—आग्रह यही है कि ''हम विश्व में और भारत में बदलती हुई परिस्थिति को पहचानें, तटस्थ होकर नई स्थिति की छाप ग्रहण करें—मिटें नहीं, नए संस्कारी हों।''

यहाँ पर, सवाल यह उठाया जा सकता है कि इस आधुनिक भारतीय मानस की जड़ें कहाँ हैं? उसके मूल्यों का दार्शनिक-आध्यात्मिक आधार क्या है? क्या वह उस 'अवस्थिति-बोध' और निर्वैयक्तिक आदर्श के अनुरूप है जिसे अज्ञेय ने स्वयं एक ओर सबकुछ को धारण करने वाली प्रज्ञा पारमिता करुणा' से और दूसरी ओर वैदिक अभय साधना से बार-बार जोड़कर देखा है?

इसी सिलसिले में अज्ञेय के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निबंध 'मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि' को पढ़ना उपयुक्त होगा। इसमें अज्ञेय कहते हैं—''किसी मतवादी रूढ़ि से अलग धर्म की उद्भावना

को मैं संसार को भारतीय चिंतन की बहुत बड़ी देन मानता हूँ। यह इसके बावजूद, कि आज मेरे समकालीन इसकी उपेक्षा करते हैं और धर्म ने जिस संकीर्णता को संपूर्णतया अस्वीकार किया था, उसी संकीर्णता के सहारे अपनी धार्मिकता की कसौटी करते हैं। संसार के किसी धर्म ने मनुष्य के मानस को उतनी स्वाधीनता का वातावरण नहीं दिया, जितना भारतीय धर्म ने। किसी ने स्वस्थ जीवन की उतनी गहरी नींव नहीं डाली, जितनी भारतीय धर्म ने''

अज्ञेय की आलोचनात्मक बुद्धिमत्ता भारतीयता की इस स्वार्जित पहचान के सामने भी बराबर सक्रिय रहती थी। ''मैं जानता हूँ'' वे उसी लेख में कहते हैं, ''कि विश्वास सम्बन्धी यह स्वाधीनता ही भारतीय धर्म की एक समस्या भी है। हर धर्म में, जिसके साथ कुछ धर्मबीजों पर आस्था की शर्त लगी हुई है, अपराध-भावना या पाप-भावना पाई जाती है और आस्था का संकट भी कभी न कभी होता है। भारतीय धर्म में ऐसी कोई शर्त नहीं है, इसलिए भारतीय मानस उस तरह के पाप-बोध से भी आक्रांत नहीं होता जिसकी पश्चिम के साहित्य में इतनी चर्चा रही। निस्सन्देह इसके अपने संकट हैं और वे सब यहाँ बार-बार प्रगट हुए हैं। आचरण की रूढ़ियों में बँधने से समाज में जो विकृतियाँ आती हैं और जैसा पाखंड पनपता है, उन्हें भी देखा जा सकता है। हमारे लिए पाखंड अपेक्षया कम कठिन है और हम उसे देर तक निवाहते चल सकते हैं।'

प्रसाद, निराला और अज्ञेय की ही परम्परा में निर्मल वर्मा जैसे लेखक बुद्धिजीवी का हमारे बीच प्रगट होना हिन्दी का सौभाग्य है। निर्मल जी बुद्धिजीवी की पश्चिमी अवधारणा के ही नहीं, बल्कि बीसवीं सदी में वहाँ के बुद्धिजीवियों के आचरण के भी कठोर आलोचक थे और भारतीय बुद्धिजीवी की भूमिका को उसकी अपनी सर्वथा भिन्न सांस्कृतिक परम्परा से जोड़ते हुए परिभाषित और चरितार्थ होते हुए देखना चाहते थे। 'एक भारतीय बुद्धिजीवी की भूमिका' शीर्षक अपने महत्त्वपूर्ण निबन्ध में निर्मल जी पाश्चात्य बुद्धिजीवियों की अनर्थकारी भूमिका को उजागर करते हुए कहते हैं–

''आज बीसवीं सदी के अन्त में जब हम पीछे की समस्त क्रांतियों के खंडहर देखते हैं तो हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि उनके पीछे बौद्धिकों की विशिष्ट भूमिका रही है जिन्होंने मनुष्य की स्वतंत्रमेधा को नकारकर उसे अपने सैद्धांतिक-विचारधारात्मक चौखटे में ढालने का प्रयास किया था। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वयं पश्चिम में ऐसे चिन्तक हुए, जिन्होंने बुद्धि के इस एकांगी, अमानुषिक प्रयोग का तीव्र विरोध किया था। यह ऐसा बिन्दु था जहाँ स्वयं बुद्धि के विरोध में यूरोपीय बुद्धिजीवी अपने को उन भारतीय चिंतकों के अधिक निकट पाते हैं–विवेकानन्द, गाँधी, श्री अरविन्द और तब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ बुद्धि आत्मबोध की ओर नहीं ले जाती, वहाँ समाज में स्वयं बुद्धिजीवी की भूमिका संदिग्ध बन जाती है।

यहाँ से–इसी तुलनात्मक विवेक को आगे बढ़ाते हुए निर्मल वर्मा उस सांस्कृतिक ऋणशोध की बात तक पहुँचते हैं जिसका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। निर्मल वर्मा अपने निबन्धों और कहानियों के बीच कोई फाँक नहीं देखते उसी निबंध (आदि, अन्त और आरम्भ)

में वे साफ कहते हैं कि ''निबन्ध मेरी कहानियों के हाशिये पर नहीं, उनके भीतर के रिक्त स्थानों को भरते हैं।'' विषय चाहे 'धर्म और धर्मनिरपेक्षता' हो, चाहे 'मेरे लिए भारतीय होने का अर्थ' हो, चाहे 'आपात काल' या चेक त्रासदी की याद हो, निर्मल वर्मा के निबन्ध हमारे सांस्कृतिक पर्यावरण में निर्बाध घुस-पैठ करते अर्द्धसत्यों को अपने विवेक की तीखी रोशनी में उघाड़ते हैं। वे अपने सुदूर बचपन की एक घटना का उल्लेख करते हैं जब किसी रेल-यात्रा के दौरान एक पुल पर से गुजरते हुए उनकी माँ ने उनके हाथ में कुछ सिक्के रखते हुए उन्हें नीचे नदी में फेंक देने को कहा था। निर्मल जी के ही शब्दों में :

''यह मेरे लिये अपने देश भारत की पहली छवि थी जो मेरी स्मृति में टंकी रह गई है...मुझे लगता है अपने देश के साथ मेरा प्रेम-प्रसंग यहीं से शुरू हुआ था...बाद के वर्षों में मेरे भीतर यह विश्वास जमता गया कि देशप्रेम यदि आत्मा की घटना है, तो यह सिर्फ एक ऐसी संस्कृति में पल्लवित होती है जहाँ 'स्पेस' और स्मृति अन्तर्गुम्फित हो सके।...मनुष्य और उन चीजों का सम्बन्ध भी बहुत गहरा हो, जो ऊपर से अजीवन्त दिखाई देते हैं...पत्थर, नदी, पहाड़, पेड़...किन्तु अपने अन्तः सम्बन्धों में वे एक जीवन्त पवित्रता का गौरव, एक तरह की धार्मिक संवेदना ग्रहण कर लेते हैं। यह क्या महज संयोग है कि हमारे यहाँ प्रकृति के इन आत्मीय उपकरणों के प्रति लगाव ने देशभक्ति की भावना को जन्म दिया जो राष्ट्र की सेक्यूलर और संकीर्ण अवधारणा से बहुत भिन्न थी।''

यह है निर्मल वर्मा के सांस्कृतिक ऋणशोध की अन्तर्कथा और अन्तःप्रक्रिया, जो उनके दूसरे भी तमाम निबन्धों में झलकती है। सांस्कृतिक जड़ों की चिन्ता का क्या अर्थ और क्या तर्क है, इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि ''स्वतंत्रता के बाद भारत के सामने सबसे दुर्गम चुनौती यह थी कि पाँच हजार वर्ष पुरानी परम्परा से क्या ऐसे राष्ट्र का जन्म हो सकता है जो अपने में 'एक' होता हुआ भी उन अनेक स्रोतों से अपनी संजीवनी शक्ति खींच सके जिन्होंने भारतीय सभ्यता का रूप-गठन किया था। यह एक ऐसी सिम्फनी रचने की कोशिश थी जिसके संगीत में हर छोटे से छोटे वाद्य का सुर संयोजित होकर गूँजता था। जिस तरह गाँधी की आँख से कभी आखिरी आदमी ओझल नहीं होता था, वैसे ही कोई परम्परा इतनी छोटी, इतनी नगण्य नहीं थी, जिसकी आवाज भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा में जुड़कर अपनी विशिष्ट लय में अनुगुंजित न होती हो।''

स्पष्ट ही यह उस मुख्य धारा की ही कोई विलक्षण खूबी होनी चाहिए जो इतने वैविध्य को स्वीकार और सम्हाल सकती है। वह खूबी निर्मल वर्मा की दृष्टि में, ''केवल सहिष्णुता की बात नहीं है जहाँ 'अन्य' को अपने से अलग मानकर उसे सहन किया जाता है, बल्कि उसके पीछे कहीं यह मान्यता काम करती है कि विभिन्न विश्वासों के बीच सत्य की सत्ता समान रूप से क्रियाशील रहती है—अपने में अखंडित और अपरिवर्तनशील।'' निर्मल जी अनुभव करते हैं कि ''भारतीय सभ्यता को अपनी यह अनमोल अन्तर्दृष्टि स्वयं अपनी आध्यात्मिक परम्परा से प्राप्त

हुई थी जहाँ आत्म और अन्य के बीच का भेद अविद्या का लक्षण था, सत्य का नहीं।'' पश्चिमी इतिहासकारों और उनके साबल्टर्न अनुयायियों के झूठ को उजागर करते हुए निर्मल जी बगैर किसी लाग-लपेट के इस सच्चाई को बलपूर्वक दोहराते हैं कि यदि भारत का सभ्यता-बोध और सांस्कृतिक परम्पराएँ आज भी मौजूद हैं तो उसका मुख्य कारण वह केन्द्रीय अध्यात्मिक तत्त्व है, जिसमें इतनी क्षमता और ऊर्जा थी कि इतिहास के निर्मम थपेड़ों के बावजूद वह समस्त प्रभावों को अपने भीतर समाहित कर सका।'' प्रसंगवश मुझे यहाँ पं. विद्यानिवास मिश्र की कही बात याद आ रही है हमारे वर्तमान जीवन की ट्रेजेडी है कि भारत की सामासिक संस्कृति के नाम पर मुख्यधारा को ही उपेक्षणीय मान लिया गया है और यही वर्तमान जीवन की ट्रेजेडी है। निर्मल जी, जैसाकि हमने देखा, अपने ढंग से इस विडम्बना के प्रति सचेत थे और अपने ढंग से उन्होंने इसे रेखांकित भी किया है। विद्यानिवासजी की ही एक दूसरी उक्ति भी मुझे यहाँ बरबस ध्यान में आ रही है कि ''पाश्चात्य संस्कृति को सबसे ज्यादा प्रतिरोध भारत ने ही दिया किन्तु उसे सबसे अधिक सहानुभूतिपूर्वक समझने वाले भी भारतीय ही हुए।'' कहना न होगा कि अज्ञेय के बाद निर्मल वर्मा का व्यक्तित्व और कृतित्व इस उक्ति की सच्चाई का ज्वलन्त प्रमाण था।

हमारा आत्मबिम्ब हमारी मूल्य-दृष्टि से जुड़ा होता है और जैसा कि अज्ञेय कहा करते थे, ''मूल्य-दृष्टि की चेतना मूल्यों की अर्थवत्ता की निरंतर खोज की प्रक्रिया है।'' हिन्दी साहित्य में सक्रिय सृजनात्मक-आलोचनात्मक मनीषा का यज्ञ इसी विवेक-चेतना का पक्ष है। हमें याद रखना होगा कि अपने चाणक्य के माध्यम से ब्राह्मणत्व की शाश्वत सार्वभौम बुद्धिवैभव' के रूप में व्याख्या करने वाले कवि-चिंतक प्रसाद ने भारतीय बुद्धिजीवन की सही और ठोस बुनियाद रखने के सिलसिले में ही नई चेतना और आधुनिक विचार-प्रवाहों को स्वायत्त करने की अनिवार्यता को भी रेखांकित किया था और उसी के साथ अपनी परम्परा के मौलिक ज्ञान-प्रतीकों के नवोन्मेष और पुनन्वेषण की आवश्यकता भी प्रतिपादित की थी। हमें यह भी स्मरण करना चाहिए कि स्वतंत्रता की देहरी पर ही हिन्दी साहित्य के नए दौर के अग्रणी कवि-चिंतक अज्ञेय ने अपने देशवासियों का आह्वान करते हुए कहा था—''आज यदि हम जीवन के गौरव की रक्षा करना चाहते हैं तो हमें परखने और मुकाबला करने की शक्ति को संगठित करना होगा। हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा।'' आधी सदी बीत गई तब से, क्या वह चुनौती आज भी यथावत् कायम नहीं है? बल्कि, सच तो यह है कि आत्मबिंब की खोज को ही विकृत और प्रदूषित करने वाले हर तरह के सांस्कृतिक प्रदूषण के विरुद्ध 'परखने और मुकाबला करने की शक्ति को संगठित करने की आवश्यकता आज जिस तरह हमारे सिर पर चढ़कर बोलने लगी है, उस तरह वह शायद तब भी नहीं बोली होगी जब अज्ञेय ने उसे परिभाषित किया था।

अज्ञेय के सामने आधुनिकतावादी दौर का परिप्रेक्ष्य था। निर्मल वर्मा ने उत्तर आधुनिकतावाद को भी अपनी आलोचना में बखूबी समेटा है। उन्हीं के शब्दों में, ''यदि पिछली सदी के पूर्वार्द्ध में मार्क्सवाद की सर्वग्रासी ऐतिहासिक आइडियोलॉजी ने रचना के आकाश पर खुद को थोपते हुए उसकी स्वायत्त गरिमा को मिटाने का उपक्रम किया था तो आज तथाकथित

'थ्योरी' उस आकाश पर हावी हो रही है।'' यह महत्त्वपूर्ण बात है कि निर्मल जी उक्त दोनों विडम्बनाओं से हमें सावधान करते हैं, जिनमें से पहली तो उनके कथनानुसार चरम रूप से 'टोटैलिटेरियन' है और दूसरी उतनी ही 'चरम सापेक्ष'। अज्ञेय को यदि बात का दर्द सालता था कि, ''हमें निरन्तर इतिहास-बोध की दीक्षा दी जा रही है और उस अवस्थिति-बोध के संस्कार को मिटाया जा रहा है, जो भारतीय चिंतन और चरित्र की अद्वितीय विशेषता रही है'', तो निर्मल जी के लिए भी आधुनिक युग का अभिशाप यही था कि ''उसने स्वयं परम्परा के शाश्वत बोध को खंडित किया है, आस्था की अभाव-पीड़ा को शून्यता के आत्महीन बोध में परिणत किया है।'' वे साफ सोचते और कहते हैं कि ''प्रश्न आधुनिकता से छुटकारा पाने का नहीं है, बल्कि स्वयं आधुनिक बोध को उसकी ऐतिहासिकता से मुक्त करने का है।'' यदि अज्ञेय की अपेक्षा निर्मल ने इस प्रवंचना को ज्यादा तत्काल संवेद्य ढंग से उजागर किया है तो वह इसलिए कि उनके सामने यह उत्तर-आधुनिक परिदृश्य भी रहा जो अज्ञेय के लिए उस तरह चुनौती नहीं बन पाया था। निर्मल वर्मा ने, मगर उसकी ऐसी सटीक आलोचना की है, जैसी और कोई नहीं करता। उन्हीं के शब्दों में :

आज बीसवीं सदी के अंत में जब हम उत्तर-आधुनिकता की बात करते हैं तो आधुनिक बोध के उस आध्यात्मिक पक्ष को बिलकुल भुला देते हैं, जिसकी संभावनाएँ कभी पूर्णरूप से यूरोप में उद्घाटित नहीं हो पाई।...उत्तर-आधुनिकता की विचारधारा में जो बहुलता दिखाई पड़ती है, वह खुलापन नहीं, ढीलापन है—विशृंखलता, जो केन्द्रहीनता से उत्पन्न होती है। आधुनिक मनुष्य के अन्तर्विरोधों की पीड़ा और उनका अतिक्रमण करने का आध्यात्मिक गौरव, दोनों के प्रति वह निरपेक्ष जान पड़ती है। आत्म-विभाजित मानस में किसी भी चरण पर अपने अखंडित सम्पूर्णत्व की ओर मुड़ने की आशा बनी रहती है। लक्ष्यहीन बहुलता की अवस्था में वह आत्मा भी लुप्त हो जाती है।

लक्ष्यहीन बहुलतावाद की फिसलपट्टी से प्रलुब्ध हमारे बुद्धिजीवियों के लिए निर्मल वर्मा की उक्त चेतावनी कितनी प्रखर-प्रासंगिक है, कहने की आवश्यकता नहीं। अपने लिए भारतीय होने का अर्थ खोजते हुए निर्मल वर्मा ने प्रश्न किया था कि 'क्या भारत हमारे लिए ऐसा स्वप्न नहीं रहा जो भारत के यथार्थ से कहीं अधिक मूल्यवान है?...और यदि वह पिछले पचास साठ बरसों में इतना धुँधला पड़ गया है तो क्या हम, जो अपने को बुद्धिजीवी मानते हैं, अपने प्रेम की लौ से उस स्वप्न को पुनः प्रकाशमान नहीं कर सकते?'' अपने आप से पूछे गए इस प्रश्न का उत्तर भी मानो उसी निबंध की समापक पंक्ति में ही प्रतिध्वनित हो उठा था—''मेरी माँ अब नहीं है।...लेकिन वह नदी अब भी है। प्रार्थना करता हूँ कि वह बिलकुल सूख नहीं गई है।''

इस प्रार्थना और आशा में, हम सभी को साझा करना चाहिए। हमारी विडम्बना यह है कि वर्तमान में हमारे देश का जो सबसे ज्यादा ताकतवर और तेज-तर्रार वर्ग है, वह वर्ग यदि भूले-भटके कभी अपने भीतर झाँकता भी है तो भी उसका पक्ष सचमुच एक आलोचक राष्ट्र का

यानी सांस्कृतिक आत्मविश्वास से प्रेरित बुद्धिऊर्जा का या अपनी संस्कृति की अन्तःसलिला को सूखने से बचाने वाली भाव-ऊर्जा का पक्ष न होकर एक तरह के आत्म-धिक्कार और आत्म-निर्वासन का ही पक्ष होता है। सदियों की राजनैतिक पराधीनता और सांस्कृतिक-शैक्षिक बदहाली ने हमारे सामूहिक आत्मबिम्ब को जिस बुरी तरह से तड़का दिया था, उसे देखते हुए भी, शायद इतिहास-विधाता ने पिछली सदी के पूर्वार्द्ध में एक के बाद एक महापुरुषों की फसल हमारे काटने के लिए उगाई थी। बीसवीं सदी की शुरुआत में ही गाँधी और श्री अरविन्द सरीखे एक दूसरे से नितांत भिन्न स्वभाव और प्रतिभा वाले, किन्तु गहरे में कहीं परस्परपूरक महापुरुषों का लगभग एक साथ ही हमारे सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन हेतु प्रकट हो जाना हमारे लिए-हमारे आत्मबिम्ब के लिए-क्या अर्थ रखता था, इसे समझ पाना अब इस इक्कीसवीं सदी की शुरुआती घड़ियों में हमारे लिए आसान होना चाहिए। हिन्दी साहित्य का आन्तरिक साक्ष्य इसमें हमारी क्या मदद कर सकता है, यह हमने दर्शाने की कोशिश की। यह साहित्य ही हममें इस 'कामनसेंस' को भी जगाता है कि कोई भी राष्ट्र केवल महापुरुषों के बूते अपनी संभावनाओं को चरितार्थ नहीं कर सकता। कि अब हमें अपने औसत सामूहिक चरित्र के बूते ही कुछ कर दिखाना है—महापुरुषों की और अपने श्रेष्ठतम प्राचीन तथा अर्वाचीन वाङ्मय की विरासत के योग्य खुद को साबित करते हुए। व्याख्यान का समापन मैं अपनी भाषा और साहित्य के ही समर्थ प्रतिनिधि निर्मल वर्मा के ही शब्दों से करना चाहूँगा :

''आधुनिक सभ्यता के संकट से मानवता को उबारने के लिए केवल उन बुद्धिजीवियों की भूमिका निर्णायक होगी जो स्वयं बुद्धि को सोध और बोध को आत्मबोध के उत्तरोत्तर विकासमान सोपानों में अवस्थित कर सकें। इस दृष्टि से भारतीय परम्परा में पगे चिंतकों का योगदान आने वाली शताब्दी में अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

(गोरखपुर में दिया गया व्याख्यान
समन्वय - अप्रैल 2009)

एम-4, निराला नगर
भदभदा रोड, भोपाल
मध्यप्रदेश-462003

बुंदेली क़िस्सागोई

–रमेशदत्त दुबे

बुंदेली लोक में क़िस्सागोई के दो रूप हैं—गीति कथा और गद्य कथा। गीति-कथा छंद में होती है और गेय होती है, आल्हा इसका एक उदाहरण है। इसमें किसी एक व्यक्ति का कथा गायन होता है— पर उस तरह नहीं जैसे महाकाव्य या प्रबंध काव्य में। इसमें चरित नायक के जीवन का कोई अंग, उस के सुख-दुख की कोई एक कथा जो अक्सर मार्मिक होती है और इसीलिए इन कथाओं का रस करुण रस होता है। इनका वाचन करते हुए क़िस्सागो की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगती है, गला अवरुद्ध हो जाता है। ऐसे समय में क़िस्सागो—'यहाँ का हाल यहीं छोड़ो और आगे का सनहु हवाल'—दुख के उस तीखे और मार्मिक प्रसंग से किसी सुखद प्रसंग पर छलाँग लगा देता है। इन कथाओं के चरित-नायकों का जीवन कितना भी करुण क्यों न हो अंततः उन से लोक-मंगल की भावना ही उद्‌भूत होती है। इस अंचल में वसी 'बसदेवा' जनजाति तो उदात्त मानव मूल्यों की कथा-गायन द्वारा ही अपनी जीविका का अर्जन करती है। दूर पहाड़ों पर बसे, अपनी बस्ती से, मुँह-अँधेरे ही, काठ की चुटकी बजाते-गाते 'हम बसुदेवा बसे पहाड़—के हरे मोरे राम जी', निकल पड़ते हैं—गाँव को, बस्तियों को 'हरे मोरे राम जी' की टेक से जगाने—जागो दानवीर कर्ण, उठो योगीराज भरथरी, संसार की रक्षा करो यशोदानंदन, अपने सत्य का साम्राज्य स्थापित करो राजा हरिचंद, सरवन कुमार की तरह माता-पिता की सेवा करो—माता-पिता तो मिलें न मोल/मात-पिता न हाट बिकाएँ—के हरे मोरे राम जी—ऐसी अनेक वैष्णव-पौराणिक कथाओं का गायन बसुदेवा करते हैं।

लोक के उस के अपने अंचल के प्रतीक पुरुष भी जातीय उद्‌गार के प्रतीक बन कर उस के गीति-कथाओं के विषय बनते हैं। रेणु ने परती-परिकथा में ऐसी ही 'सुन्नरि नैका' और 'तीसरी क़सम' में 'महुआ घटवारिंन' की गीति-कथा का प्रयोग किया है। इन के प्रयोग से जहाँ रचना में सादगी, ताज़गी और काव्य दृष्टि की सृष्टि होती है, वहीं आदिम राग की भी गंध आती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—'भावों के मूल और आदिम राग ही हमारे हृदय को सब से अधिक स्पर्श करते हैं। इन रूपों के प्रति हमारे अत्यधिक अनुराग का कारण अपना ख़ास सुख-भोग नहीं, वरन् चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। मनुष्य जाति जिस समय प्रकृति के खुले वातावरण में विचरण करती थी, उस समय के उस के सहचरों से, उस की पारस्परिक

प्रीति की स्मृति ही 'वंश-परंपरागत वासना है।' दूसरे शब्दों में यही आदिम राग है। इस आदिम राग की पहचान ही लोक साहित्य की वास्तविक पहचान है। लोक कथाओं में यह आदिम राग उस के शिल्प में बसता है।

बुंदेलखंड में एक ऐसी ही गीति-कथा लाला हरदौल की है। कथा है : ओरछा के राजा जुझारसिंह को अपनी पत्नी और भाई हरदौल के संबंधों पर शक हो गया। सतीत्व की परीक्षा के लिए जुझारसिंह ने अपनी पत्नी के सामने शर्त रखी कि वह अपने हाथों से हरदौल को ज़हर का प्याला पिला दे। हरदौल ने हँसते-हँसते ज़हर का प्याला पी लिया और बुंदेलखंड में विघ्न-विनाशक गणेशजी की तरह पूज्य हो गए। बुंदेलखंड के हर गाँव में, गाँव के बाहर दो चबूतरे बने होते हैं; बड़ा चबूतरा हरदौल का, छोटा चबूतरा दूला देव का। गीति कथा इस प्रकार है—

'बुंदेला देसा के हो, रैया राजों के हो
लाला बड़े रे लछारे' तोरे नाव
कौन घरी जनमन लियो; कौन घरी औतार
अच्छी घरी जनमन लियो; सुघर घरी औतार
कायकें नरा छीनयो, कायकें खपर अस्त्रान
. . .
काना से दल ऊनओ, काना भयो मिलान
महोबे से दल ऊनओ, ओरछा भयो मिलान
देशन-देशन चौंतरा
हो लाला, गाँवन-गाँवन नाव'

लोक-साहित्य के तीन रूप हैं—गीति और लोक कथा, लोकगीत, लोकनाट्य। इन में लोकनाट्य की परंपरा बुंदेलखंड में अत्यंत क्षीण है। क़िस्सागोई के साथ लोकगीत, जनजीवन का प्रासंगिक उल्लेख प्रसंगेतर नहीं होगा, क्योंकि तीनों का अपना वैशिष्ट्य है—एक-सी अर्थच्छटा है।

बुंदेली विवाहों में सर्वप्रथम लाला हरदौल को आमंत्रित किया जाता है। विवाह की प्राथमिक रस्म—'मांगर माटी' जिस में औरतें विवाह की रसोई के चूल्हों के लिए खदान से माटी लेने जाती हैं—संपूर्ण चर-अचर को (साँप-बिच्छू तक को) निमंत्रित करती हैं; गाती हैं :

हरदौल लाला परमेसरे, आरे पैलो न्यौतो लेवे
सरग नसैनी पाट की, जे चढ़ न्यौतो लेव
दूला देव परमेसरे, आरे...

हरदौल की गीति कथा इस प्रकार है : हरदौल की मृत्यु के पश्चात उन की बहन रानी कुंजा की पुत्री का विवाह तय हुआ। विवाह में मामा 'चीकट' लेकर आता है :

बींदरियाँ साईं हमें ने सुहावे
हमरे बिरन परदेस
तुमरे बीरन को लिखते पठैहों
लिखतन रे साईं वे नईं आवें
संदेशे बीरन कैंसे आइयो
हमरे बीरन को डांगा परत है
मोरे बीर बिरन कैंसें आइयो
सुन्ने कुदरियाँ डांगा कटइहौं
गोरीधन के बीर बुलाय हौं

यह 'बींद' कहलाती है, जैसे गारी, बनरा, भाँवर गीत आदि। यह केवल चीकट के समय गाई जाती है। चीकट चढ़ाने का यह क्षण इतना मार्मिक होता है कि जब भाई अपनी बहन को चीकट उढ़ाता है तो उपस्थित लोगों की आँखें भी नम हो जाती हैं। पता नहीं इसमें कितना हाथ मायके की याद का है, कितना हरदौल वाली जनश्रुति का। लोकगीत में प्रश्न के वाक्यांश को उत्तर में अविकल रूप में प्रयुक्त किया जाता है ताकि संप्रेषण में बाधा न हो। इससे सादगी भी उभरती है और भाव की सघनता का रचाव भी होता है। लोक साहित्य की सटीक परिभाषा देना संभव नहीं है। इसके कुछेक लक्षणों के आधार पर ही इस की घेराबंदी की जा सकती है। जैसे, लोक साहित्य अनाम होता है क्योंकि यह किसी एक व्यक्ति की रचना होती भी नहीं है। यह समाज द्वारा व्यक्ति और समाज के अद्वैत के अर्थ में लंबे समय तक रचा जाता है और अंत में समाज की स्थायी स्मृति बन जाता है। यहाँ तक कि उसकी लय-ताल तक में कोई फ़र्क़ नहीं मिलता। प्रकृति और अपने समय से गहरा तादात्म्य इसकी एक वजह है। अपने भूगोल में ही इनकी गहरी पहचान है। अंचल की बोली, विशिष्ट शिल्प, आदिम गंध और लोक मिथकों के आधार पर ही लोक-साहित्य की सही पहचान हो सकती है।

निर्मल वर्मा ने कहीं लिखा है : 'संस्कृति के जीवंत तत्त्व उस नाजुक कड़ी में बसे होते हैं जो मनुष्य की आत्मा को उसके बाहरी परिवेश से जोड़ती है। इस एक कड़ी में न जाने कितनी छोटी-छोटी शृंखलाएँ बँधी होती हैं– हमारे कर्मकांड, हमारे अनुष्ठानों, मिथकों और विश्वासों की शृंखलाएँ, जो जन्म से मृत्यु तक हमें धरती पर अपने होने का अहसास दिलाती हैं।' लोक के अपने मिथक हैं : आदिम परंपरा के मन में ध्वनित-प्रतिध्वनित होते हुए—कल भी, आज भी और अभी, बिल्कुल अभी भी। उपरोक्त गीत में सोने की कुदाल (सुन्ने कुदरियाँ) सोने की नहीं, एक मिथक है, जैसे लोककथा के राजा वीर विकरमाजीत, उज्जैयनी के सम्राट विक्रमादित्य नहीं; सुरहिन गाय, कामधेनु नहीं; या जैसे 'सपरलेव काशी जू की झिरिये' में गंगा नहीं (गंगा तो बुंदेलखंड के किसी भू-भाग को स्पर्श भी नहीं करती। बुंदेलखंड की तो चार नदियाँ, जो उसकी सीमा-रेखा को भी निर्धारित करती हैं—'इत चंबल; उस नर्मदा, इत धसान, उत तौंस हैं) गंगा की पवित्रता का मिथक है।

कहते हैं रानी कुंजा ने मरघट जा कर अपने भाई को पुकारा, भैया; तुम तो रहे नहीं, चीकट कौन लायेगा!'

दीमान राजा मोरी जा पत राखो
सब देई-देवतों खों दूद-मलीदा
हरदौल लाला खों कोरे बरा
मोरी जा पत राखो

हरदौल की समाधि से आवाज़ आई 'बहिन तुम विवाह की तैयारी करो, मैं चीकट लेकर आऊँगा।' चीकट के समय अपने आप 'लहर-पटोरे (क़ीमती वस्त्र) गिरने लगे। रोती हुई बहिन ने अपने भाई को देखना चाहा, लेकिन वे तो अदृश्य थे। धाड़ें मारती कुंजा शादी के खंभ से लिपट गई। खंभ के हज़ार टुकड़े हो गए।

बुंदेलखंड में 'मामा भतोयर' का महत्त्व है। लड़की के मामा द्वारा 'कच्ची-पंगत' में भात परसा जाता है। दूल्हा खाने से इनकार करता है तब मामा कुछ रुपए या सोने-चाँदी की कोई चीज़ नेग (भेंट) में देता है और तब दूल्हा भात खा लेता है।

हाँ तो, कुंजा ने कहा, 'भतोयर पूजा करके जाना हरदौल!'
'मैं अदृश्य रूप में भात परोसूँगा', हरदौल ने कहा।

ज्यौनार बैठी तो खाने वालों ने देखा, पत्तल में चावल गिरते हैं, घी गिरता है (घियला परसे असल पुराने, असी कोस लो जाये महकाने)। लेकिन परसने वाला अदृश्य है। जब दूल्हा को भात परोसा गया तो उस ने नेग माँगा, 'जब तक साक्षात नहीं परोसोगे, नहीं खाऊँगा।' हरदौल ने बहुत समझाया लेकिन उसने हरदौल का अदृश्य हाथ पकड़ लिया। हरदौल को पुनः शरीर में लौटना संभव नहीं था। हरदौल का हाथ पकड़े-पकड़े दूल्हा भी इस असार-संसार से कूच कर गया। लाला हरदौल की तरह 'दूला-देव' भी बुंदेली संस्कृति के पूजा-पुरुष बन गए :

दूला देव बाबा, अबकी अरज मोरी मानियो
मानो-मानो हे बड़े सिरदार—
तुमरे माथे है, सेहरा अति बनो
तुमरे कलियाँ हैं, रतन जड़ाव
अबकी अरज मोरी मानियो

लोक कथाओं का एक रूप वह भी है जिस में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग मिलता है—जैसे बूचा-कुत्ता, एक चींटी को उसके पति चीटा ने लात मारी तो वह नाराज हो कर घर छोड़कर चल दी। नीम पर बैठे कौओं ने देखा तो पूछा :

चीटी-चीटी कहाँ जातीं
चीटा ने लात मारी, चीटी रिसा चली
कौओं ने कहा, 'यहीं, हमारे पास रह जाओ'

क्या खाना, क्या पीना
क्या ओढ़ना, क्या बिछाना
नीम के पेड़ पर रहना
पत्ते ओढ़ना, पत्ते बिछाना
निबौली खा कर रह जाना

इसी तरह चीटी को बगुले मिलते हैं, राजा मिलता है, लेकिन वह कहीं नहीं रहती। अंत में एक कुत्ता, जिसके कान कटे हैं, उसके पास वह रह जाती है। अंत में वह कुत्ता मर जाता है और चीटी सिर पटक-पटक का विलाप करती है :

नीम भरे मैं ने कौअे छोड़े, ताल भरे मैं ने बगुला
छोड़ी राजा की सेज सुपेती, हाय मेरा बूचा कुत्ता

लोक कथा का यह वैशिष्ट्य ही है कि यहाँ कलाकार रचना-संसार में अपने को कथा के शिल्प की तरह प्रतिष्ठित करता है, उसी के ऐसे अंग की तरह जहाँ उस का स्थानापन्न संभव नहीं और यहीं से वह गप्प लड़ाता हुआ अपने कलाकार की यात्रा शुरू करता है। विद्यानिवास मिश्र ने अपने एक निबंध 'भारतीय लोक साहित्य की पहचान' में शिल्प विधान को लोक साहित्य की असली पहचान माना है। उन्होंने लिखा है कि यहाँ शिल्प-विधान पूर्व चिन्तित व्यापार की तरह अवश्य नहीं है, लेकिन 'अभिव्यक्त को अभिव्यंज से जोड़ने' की जो कला लोक में है, वह कम महत्त्व नहीं रखती; वही शिल्प विधान है।

बुंदेली लोक कथा एक भूमिका से शुरू होती है :

किस्सा ही झूठ नहीं, बातों सी मीठी नहीं
घरी-घरी बिसराम, कौन जाने ! सेत्ताराम
झरबेरी का काँटा, बाहर हाथ लंबा
आधा बकरी ने लिया चर, आधे पर बसे तीन गाँव
एक उजाड़, एक खुजाड़, एक मनुष्य विहीन
जो था मनुष्य विहीन, उस में बसे तीन कुम्हार
एक लूला, एक लँगड़ा, एक के हाथ ही नहीं
जिस के हाथ नहीं, उस ने बनायीं तीन हंडियें
एक ओंगू, एक बोंगू, एक के ओंठ ही नहीं
जिस के ओंठ ही नहीं, उस में चुराये तीन चावल
एक अच्चो, एक कच्चो, एक चुरा ही नहीं
जो चुरा ही नहीं, उस पर न्यौते तीन बामन
एक अफरो, एक डफरो, एक को भूख ही नहीं
शक्कर का घोड़ा, सकरपारे की लगाम

छोड़ दिया नदिया के बीच
चला गया छमाछम-छमाछम...ऐसे-ऐसे एक राजा थे

यह भूमिका लोक कथा के शिल्प विधान को रेखांकित करती है। यही उसका सौन्दर्य शास्त्र है। यह ऐसा प्राक्कथन है जो क़िस्से के भीतर घुसने और उसके रेशे-रेशे को समझने में मदद ही नहीं करता, वरन् श्रोता के मन को इस तरह तैयार कर देता है जिससे मकड़ी के समान हज़ार-हज़ार कहानियों को उधेड़ा-बुना जा सकता है—निर्बंध होते हुए, एक गहरे बंधन-अनुशासन के तहत। अपने आप में यह भूमिका स्वतः एक फ़ैन्टेसी ही है—मनुष्य की राग-चेतना में संपूर्ण चराचर को ध्वनित करती हुई। मनुष्य और प्रकृति, जड़ और चेतन, भूगोल और इतिहास की सारी दूरियों को पाटती हुई। लोक में मौसम, नदियाँ, पर्वत, प्रकृति संवेदन का अंग बन कर ही चित्रित होते हैं। इसमें चीज़ों के साथ खिलवाड़ और खिलंदड़ापन भी है जिससे क़िस्सा रोचक, मनोरंजक और 'विटी' बनाता है। साथ ही क़िस्से को भाषा से ऊपर ले जाकर अर्थ के संसार में प्रतिष्ठित करता है।

शास्त्रों के साथ लोक की समानांतर धारा हमेशा बहती रही है तो सिर्फ़ इसलिए नहीं कि आमजन शास्त्रों से अनभिज्ञ था इसलिए उसने अपनी अनगढ़ता में कुछ रच-बना लिया है; वरन् उसमें शास्त्रों की तानाशाही के ख़िलाफ़ एक विनम्र प्रतिरोध का भी स्वर है—अपनी बोली, अपनी ज़मीन, अपने जन की अस्मिता-अस्तित्व की रक्षा के लिए। लोक का शिल्प उसका अपना है—मौलिक। आयातित शिल्पों ने शास्त्रों को भले ही संपन्नतर बनाया हो, लोक का तो उसने बिगाड़ा ही है—लोक ने उसे पूरी तरह नकारा भी है।

बुंदेली मूलतः गद्य की भाषा है लेकिन लोककथा के बिम्ब गद्य की अपनी सीमा के बावजूद नीरस नहीं होते, गद्य का विस्तार उनमें नूतन और ताज़ा अर्थच्छटाएँ रचता है। ये बिम्ब लोक के भूगोल और समय में अवस्थित होते हैं इसलिए सहज संप्रेषणीय होते हैं। बुंदेली 'विट' की भी भाषा है जिन्होंने ब्रेष्ट के नाटक काकेशियन चॉक सर्किल के बुंदेली रूपांतरण का कारंत वाला प्रदर्शन देखा होगा, वे इसकी 'विट' की क्षमता को समझ सकते हैं। बुंदेली जन एक औघड़ (उन कें दूध, न गड्डमगड्डा, उन कें भैंस न रोयें पड़ा, उन कें यहाँ न कन्या कुँवारी, करमचंद को नींद पियारी) निरगुनिया की तरह मज़ाहिया चरित्र का धनी होता है। गंभीर बात करेगा तो भी मज़ाक में। इसकी लोकोक्तियों, मुहावरों में अद्‌भुत 'विट' है—व्यंजना है—जैसे, 'पति मरा; मैंने दूसरा किया, मेरा राम ने क्या कर लिया।' या 'गुड़ होता, गुलगुला बनाती, लाती कनक उधार—अकेला तेल नहीं है।' अधिकांश लोकोक्तियाँ इतनी अश्लील हैं कि उन्हें छापा नहीं जा सकता लेकिन बुंदेली अंचल में सहज भाव से बोली-समझी जाती हैं, बिना किसी कुंठा के। लोककथाओं में चरित्र या वातावरण के चित्रण के विस्तार को लोकोक्तियों में समाहित कर दिया जाता है जो विस्तार को सघन करती हुई, अनेक अर्थ, संकेत, व्यंजनाएँ निर्मित करती हुई एक काव्य बिम्ब की रचना करती हैं। असल में इस 'विट' के बलबूते ही तो आमजन अपने तमाम अभावों-अकालों को धकिया कर आनंद,

उत्साह और मेले का संसार रच पाता है। घर में दाने न होने पर भी, अम्मा अपना नवान्न का मेला देखने-मनाने निकल पड़ती है। मनुष्य से मनुष्य के मिलन को मेल कहा जाता है, लेकिन जहाँ समूह से समूह मिलता है—मेला बनता है—उत्सव, आनंद और उल्लास का प्रतीक। लोक कथाओं का समापन लोक मंगल की भूमि पर ही होता है इसलिए अधिकांश लोक कथाओं का समापन वाक्य होता है—'जैसे उनके दिन फिरे, सब के फिरें। इन लोक कथाओं की दृष्टि शिव की है जहाँ शिव भाव रूप में नहीं—साक्षात् पार्वती के साथ बूढ़े बैल पर बैठे उपस्थित हो जाते हैं : चरित नायक के दुखों से द्रवित पार्वती बोलीं, 'प्रभो, इसके लिए आपको कुछ न कुछ करना होगा।' इसलिए तो मैं औरतों के साथ चलता नहीं', शिव ने कहा।

अंत में शिव को बात माननी पड़ती है पार्वती की, लोक कथा की, क़िस्सागो की—पता नहीं!

संपूर्ण लोक साहित्य की तरह लोक कथाओं की भी वाचिक परंपरा है लेकिन इसके वाचन का भी वही लोक शिल्प है—वही निरभिमान, निर्व्याज, निसर्गोद्भूत। गाँव में क़िस्सागोई कुछ व्यक्ति ही करते हैं। ये इस कला में माहिर होते हैं। साभिनय, भावपूर्ण मुद्राओं के सहारे ये क़िस्सा सुनाते हैं। जिस तरह लोक गीतों के अपने अवसर अपनी ऋतु होती है, लोक कथा के साथ ऐसी कोई पाबंदी नहीं होती। ठंड की ऋतु में अलाव के इर्द-गिर्द क़िस्सागोई अधिक चलती है। दिन में क़िस्सा कहने का निषेध है। कहा जाता है कि ऐसा करने से मामा रास्ता भूल जाता है। क़िस्सा सुनने वाले को बीच-बीच में 'हूंका' भरना पड़ता है। क़िस्सागो क़िस्सा शुरू करने के पहले भूमिका बाँधता है : 'कहने वाले तो कहते ही रहते हैं, सुनने वाला सावधान चाहिए।' श्रोता की यह सावधानी ज़रूरी है ताकि वह फ़ैन्टेसी में घुस कर अपने यथार्थ को तलाश सके। लोक कथा में जैन, बौद्ध या इस्लामिक मिथक नहीं हैं तो यह नहीं कि ये परम वैष्णव कहानियाँ हैं। यहाँ तो मूल्य, दर्शन, अध्यात्म ऊपर से आरोपित नहीं होते, कथा के शरीर के अभिन्न अंग, उसके प्रवाह की गति की तरह उपस्थित होते हैं।

बुंदेली लोक कथाओं का वर्गीकरण किया जाए तो : एक— दानी-नानी की कहानियाँ : इनमें परीकथाएँ, पंचतंत्र की तरह जानवरों की कहानियाँ हैं। दूसरी— अलाव के इर्द-गिर्द की कहानियाँ हैं। इनमें तरह-तरह की कहानियाँ—ऐन्द्रजालिक, मनुष्य और मनुष्येतर संसार की कहानियाँ, समस्यापूर्ति की कहानियाँ जिन्हें 'गा' कहते हैं, आदि हैं। तीसरी— तीज-त्योहार की कथाएँ हैं और चौथी— वे कथाएँ हैं जिन्हें लोकोक्ति की तरह इस्तेमाल किया जाता है।

मैं इस आलेख को क़िस्सा समाप्त होने पर कहे जाने वाले उस वाक्य से समाप्त करता हूँ :

बढ़ई ने बनाई तिकटी। क़िस्सा थी सो निपटी

या

क़िस्सा थी सो हो गयी। बूढ़ी डुकरिया सो गयी

पुलिस चौकी के सामने
शनिचरी वार्ड, सागर (म.प्र.)

बाजारवादी समाज में साहित्य की जगह

-*प्रो.रसाल सिंह एवं ** कमल दीप सिंह

उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की प्रक्रिया भारत में 1991 ई. में किये गये आर्थिक सुधारों के साथ शुरू हुई। व्यापार करने और उद्योग धंधे लगाने के लिए जो कठोर नियम थे, उनमें रियायत दी गयी। इसे ही उदारीकरण कहा जाता है। उदारीकरण से मिली रियायत के फलस्वरूप भारत के बाज़ार और वस्तुओं को उपभोग करने की क्षमता को देखते हुए, विभिन्न विदेशी कंपनियों ने भारत में व्यापक स्तर पर व्यापार शुरू किया। उदारीकरण से भारत में लाइसेंस परमिट का इंस्पेक्टर राज खत्म हुआ। इसके साथ ही निजीकरण में सरकार के नियंत्रण को आंशिक या पूर्णतः समाप्त कर, नियंत्रण निजी हाथों में दे दिया जाता है। निजीकरण से कार्य की गुणवत्ता में सुधार की अधिक संभावना रहती है क्योंकि निजी कम्पनियाँ मुनाफ़े के सिद्धांत पर काम करती हैं। विश्व के विभिन्न देशों के मध्य आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, पूँजी, तकनीक आदि का आपसी आदान-प्रदान और अबाध आवाजाही को वैश्वीकरण ने संभव किया। वैश्वीकरण ने राष्ट्रवाद की जकड़न को ध्वस्त कर दिया। इस प्रक्रिया को भूमंडलीकरण भी कहा जाता है। भूमंडलीकरण विश्वग्राम की अवधारणा है। किन्तु इस विश्वग्राम में अमेरिका ऐसा सरपंच बन गया है, जो सारे विश्व को अपने जैसा परिधान, खान-पान, रहन-सहन, संस्कृति, सभ्यता में देखना चाहता है। अमेरिका अपनी संस्कृति, अपने विचार, अपने मूल्यों की चौधराहट चलाना चाहता है। वह विविधता के स्थान पर अमेरिकी वर्चस्व की एकरूपता चाहता है। भूमंडलीकरण को स्पष्ट करते हुए प्रभा खेतान लिखती हैं– ''भूमंडलीकरण वह प्रक्रिया है जो वित्त-पूँजी के निवेश, उत्पादन और बाज़ार द्वारा राष्ट्रीय सीमा में ही वर्चस्वी नहीं, बल्कि राष्ट्रीय सीमा से परे भूमंडलीय आधार पर निरंतर अपना प्रसार करना चाहती है। इसका निर्णय क्षेत्र सारी दुनिया है।''[1]

वैश्वीकरण एक प्रकार से अमेरिकीकरण ही है। जहाँ अधिकतर बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अमेरिकी हैं वे अमेरिकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहीं हैं। सारी दुनिया में अमेरिकी संस्कृति, सभ्यता और उत्पादों का वर्चस्व प्रत्येक व्यक्ति को अमेरिकी दृष्टिकोण से सोचने वाला बना रहा है। जैसाकि विष्णु नागर ने अपनी कविता अमेरिकीकरण में कहा है–

'जब कभी मुझे लगता है कि अमेरिका पूरी दुनिया के लिए खतरा है

तो भी मैं इस खतरे को
एक सच्चे अमेरिकी की तरह महसूस करता हूँ
और जब कभी मुझे यह लगता है कि अमेरिका बर्बर है
तब मैं अपने से पूछता हूँ कि आखिर मैं अमेरिकी क्यों हूँ
और कुछ देर बाद यह सोचकर मुस्कुरा पड़ता हूँ कि
मेरे पास इसका विकल्प भी क्या है।'

वैश्वीकरण का एक महत्त्वपूर्ण घटक बाजारवाद है। बाज़ार एक ऐसी व्यवस्था का नाम है, जहाँ से हम अपनी आवश्यकतानुसार चीजों, वस्तुओं को क्रय कर सकते हैं। किन्तु बाजारवाद चीजों को पैदा करने के बाद उसकी आवश्यकता को उत्पन्न करता है। बाजारवाद एक ऐसा भ्रम फैलाता है जिससे व्यक्ति अनावश्यक वस्तुओं को भी अति आवश्यक समझ कर क्रय कर लेता है और अक्सर ग्राहक के रूप में ठगा ही जाता है। डिस्काउंट और सेल की चकाचौंध के जरिए बाजारवादी व्यवस्था ग्राहक की सोचने-समझने की शक्ति छीन लेती है। विवेकहीन ग्राहक अब केवल बाज़ार के बारे में ही सोचेगा। उपभोक्ता बाजारवाद के दौर में स्वयं उपभोग किया जा रहा है। बाज़ार आज कोई स्थान विशेष नहीं है वह हमारी चारदिवारी और चेतना में प्रविष्ट हो चुका है। उसकी सतत् उपस्थिति हमारे चिंतन, संवेदन, निर्णय को प्रभावित करती है। बाज़ार मोबाइल, इंटरनेट में ऑनलाइन शॉपिंग के चित्रों, चलचित्रों के माध्यम से हमारे साथ ही रहता है। कभी हमारे ज़ेब में, कभी तकिये के पास से वह 'मुझे देखो मुझमें एक बाज़ार है' 'आज अच्छा डिस्काउंट मिल रहा है' का लालच हमें देता रहता है। लालच-अतृप्ति बाजारवाद का अनाहूत फलागम है।

उपभोक्तावाद अधिक से अधिक वस्तुओं को क्रय करने की होड़, उनका स्वामी होने में सुख का अनुभव करना है। उपभोक्तावाद की प्रवृत्ति से बाजारवाद का दायरा बढ़ता है। उपभोक्तावाद से वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह होता है। उपभोक्तावाद आवश्यकताओं पर नहीं इच्छाओं को बढ़ाने पर ध्यान देता है। बाज़ार लोक लुभावन तरीकों द्वारा मानव को बाजार की अधिक से अधिक वस्तुओं को खरीदने के लिए एक तरह से बाध्य करता है। आज ब्रांड संस्कृति का समय आ गया है, जहाँ व्यक्ति प्रत्येक वस्तु में ब्रांड की तलाश करता है। स्थापित ब्रांड का अर्थ वस्तु का श्रेष्ठ हो जाना समझा जाता है। अपने ब्रांड की वस्तु का उपभोग करना और उसका प्रदर्शन करना कि 'मैं अमुक ब्रांड का उपभोक्ता हूँ' इसमें व्यक्ति सुख का अनुभव करता है। इससे व्यक्ति के अहं की तुष्टि होती है। उपभोक्तावाद ने हर वस्तु को भोग्य और बिकाऊ बना दिया है। आज व्यक्ति अर्थ केन्द्रित जीवन जीना चाहता है। वह बाज़ार की अधिकाधिक वस्तुओं और बाज़ार द्वारा दी जाने वाली सेवाओं का उपभोग करना चाहता है। उपभोग की आज कोई सीमा नहीं है। इससे भ्रष्टाचार और आपराधिक घटनाओं को भी बढ़ावा मिलता है।

चार्वाक का जीवन दर्शन 'यावत जीवेत सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत' वर्तमान जीवन शैली है। उपभोक्तावाद अधिकाधिक संग्रह की बात करता है जबकि हमारी परम्पराओं में अधिक संग्रह न करने और केवल आवश्यकतानुसार उपभोग करने की बात कही गयी है, जिसे गौतम बुद्ध ने 'अपरिग्रह' कहा है। महात्मा गाँधी का न्यासिता(ट्रस्टीशिप) का सिद्धान्त भी पूँजी के विकेन्द्रीयकरण की बात कहता है। असीमित उपभोग करने की इच्छा से व्यक्ति असीमित संग्रह करता है। ऋषि परम्परा में धन संग्रह न करने की बात कही गयी है। पंचतंत्र के लेखक विष्णुशर्मा लिखते हैं– "दातव्यं भोक्तव्यं धनविषये संचयो न कर्तव्यः।" आज ये सिद्धांत केवल सुभाषित बनकर ग्रंथो में दम तोड़ चुके हैं।

बाजारवाद और उपभोक्तावाद को विज्ञापन से बढ़ावा मिलता है। इस सम्बन्ध में पुष्पपाल सिंह लिखते है "बाजारवाद और उपभोक्तावाद को विज्ञापन का मायावी जगत ही पल्लवित करता है। यही उसे संभव बनाता है। प्रत्येक वस्तु उत्पाद पहले उत्पादित की जाती है और फिर विज्ञापन उसे आवश्यकता और जीवन की अपरिहार्य वस्तु के रूप में प्रस्तुत कर उसकी माँग बढ़ाता है।"[2]

सोशल मीडिया और प्रिंट मीडिया भी बाजारवाद और उपभोक्तावाद को बढ़ावा दे रहा है। समाचार पत्रों में प्रत्येक दिन विज्ञापन छपते हैं। जो बाजारवाद और उपभोक्तावाद को बढ़ाते हैं। इसी प्रकार सोशल मीडिया को देख लें तो हम पाते हैं कि यहाँ भी विज्ञापन का मायाजाल फैला हुआ है। इन विज्ञापनों से ही पैसा बनाया जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं है, कि इन विज्ञापनों में कितने भ्रामक विज्ञापन होंगे। इसी प्रकार डाटा शेयर करने की बात चली ये दृष्टिकोण भी व्यक्ति की निजता का अंत करके अंततः बाजारवाद को ही बढ़ावा देगा।

समाज लोगों का समूह मात्र नहीं होता, बल्कि उनके रहन-सहन, रीति, रिवाज, परम्पराओं इत्यादि से समाज बनता है। इस दृष्टि से देखें तो भारत में कई समाज हो जाते हैं। फिर भी हमारी राष्ट्रीय भावनाएँ हमें भारतीय समाज में परिवर्तित करती हैं। समय-समय पर समाज पर नवीन दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ता ही है और उससे समाज में कुछ परिवर्तन भी आता है। बाज़ार जब विचार(वाद) का लिबास पहनकर बाजारवाद के रूप में समाज में आया तो उसने समाज में 180^0 का बदलाव लाया। भारतीय संस्कृति जहाँ पुरुषार्थ चतुष्ट्य के सिद्धांत पर चलती थी। व्यक्ति के जीवन का प्रथम और अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति होता था, वहीं अब समाज केवल अर्थकेन्द्रित हो गया है। अब व्यक्ति के जीवन का प्रथम और अंतिम लक्ष्य केवल धनार्जन ही है। आध्यात्मिकता, नैतिकता, धर्म अब बाजारवाद के प्रभाव से केवल दिखावे की वस्तु बन गयी है। प्राचीन मान्यताओं और परम्पराओं का स्थान अमेरिकी अथवा पाश्चात्य मान्यताओं ने ले लिया है। अब हर वस्तु, विचार को भोग्य की दृष्टि से देखा जाता है। अगर वह भोग्य है तो वह काम की है अन्यथा बेकार है। बाजारवाद के प्रभाव से व्यक्तिगत और

सामाजिक दोनों स्तरों में परिवर्तन हुए है। इसमें सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरह के बदलाव दिखाई देते हैं। बाजारवाद आर्थिक प्रगति का संकेत देता है। अधिक क्रय करने की इच्छा से व्यक्ति अधिक धनार्जन का प्रयास करता है, जब तक धनार्जन का माध्यम नैतिक है, तब तक यह बाजारवाद का सकारात्मक प्रभाव ही है किन्तु धनार्जन के लिए अनैतिक, वर्जित माध्यमों का प्रयोग किया जायेगा, तो यह बाजारवाद का नकारात्मक प्रभाव होगा। जैसे भ्रष्टाचार, चोरी, देह व्यापार आदि। आज इंटरनेट कमाई का साधन हो गया है। यू-ट्यूब, फेसबुक आदि द्वारा आज समाज का प्रत्येक आयु वर्ग न सिर्फ प्रभावित हो रहा है। बल्कि वह इसमें सहभागी भी हो रहा है। नवीन विचारों, दृष्टिकोणों, तकनीक, अपनी रुचि की चीजों को वह इंटरनेट द्वारा ही विश्व के सामने रख रहा है। इस प्रक्रिया में नैतिक और अनैतिक दोनों ही तरह की चीजें आ रही हैं। ओ.टी.टी प्लेटफार्म इसका उदाहरण है। लोगों का दृष्टिकोण नैतिकता को लेकर बदल रहा है। आज अश्लीलता जो टेलीविजन द्वारा घर-घर में पहुँच रही है। लोग अब उसे सहजता से ले रहे हैं। 'इतना तो चलता है' 'यह आधुनिकता है' का दृष्टिकोण बन गया है, इससे पुराना ढर्रा समाप्त सा दिखता है, जहाँ दिखावे का महत्त्व अधिक न था। नैतिकताओं का ध्यान रखा जाता था। बाजारवाद ने संस्कृति और सभ्यता पर नकारात्मक प्रभाव डाला है। जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि की तर्ज पर दुर्गम से दुर्गम भौगोलिक स्थान, पिछड़े से पिछड़े स्थलों पर बाजारवाद की पहुँच और प्रकोप हो गया है। हाल ही में टेलीविजन में एक विज्ञापन में दिखाया गया कि रेगिस्तान में प्यासा ऊँट बोतल का पानी क्रय करके पीता है, उसमें भी एक खास ब्रांड का ही पानी वह माँगता है और स्लोगन चलता है 'समझदार जानते है कि हर पानी की बोतल...नहीं' इस तरह अमुक ब्रांड को क्रय करना एक तरह से बुद्धि से जोड़ दिया जाता है। ब्रांड संस्कृति आज इतनी प्रबल है कि व्यक्ति बड़े से बड़े ब्रांड की वस्तु क्रय करना चाहता है। यदि वह आर्थिक रूप से इसमें सक्षम नहीं हो पाता तो सक्षम व्यक्ति को देख-देख कर कुंठा से ग्रसित होता है। अतृप्ति या अक्षमता को दूर करने के लिए व्यक्ति अपराध/अनैतिक माध्यमों को चुनता है।

बाजारवादी समाज में स्त्री को एक ओर जहाँ जीवन में आत्मनिर्भरता के अवसर प्राप्त हो रहे हैं। वहीं स्त्री को वस्तु के रूप में भी पेश किया जा रहा है। बाजारवाद स्त्री के लिए मृगछलना साबित हुआ। स्त्री को मायावी मृग के समान पेश करके बाज़ार अपने उत्पादों को बेच रहा है। स्त्री देह को बाजारवाद का हथियार बनाया गया। विज्ञापनों में ही हम देखें तो पाते हैं कि स्त्री को वस्तु की भाँति ग्राहक को लुभाने के लिए प्रयोग किया जाता है। स्त्री का निर्धारक तत्त्व/मानदंड सौन्दर्य हो गया है। इस आभासी सौन्दर्य को जब विवेकहीन पुरुष स्क्रीन पर देखता है तो उससे उत्पन्न बुरे विचारों का परिणाम उसकी (पुरुष की) पहुँच की स्त्रियों को झेलना पड़ता है। दूसरी ओर स्त्रियाँ इस मेकअप के सौन्दर्य को प्राप्त करने की इच्छा रखती हैं और

अक्षमता की स्थिति में स्क्रीन की सुन्दरता देख स्त्रियों में कुंठा/अतृप्ति पैदा होती है। स्त्री पर बाजारवाद के प्रभाव को अभय कुमार दुबे लिखते हैं– "स्त्री भी बाजारवाद का एक उपकरण बन गयी है। जिसको बाज़ार अपनी समृद्धि के लिए जैसे चाहे प्रयोग कर रहा है। क्योंकि वह स्त्री पुरुष की अपेक्षा सौन्दर्य शास्त्रीय लिहाज से अधिक लुभावनी है। क्रय शक्ति के मालिक पुरुष हैं और कम वस्त्रों में सुंदर नारी पेश करके उनसे पैसे खर्च करवाए जा सकते हैं।"[3]

बाजारवाद के दौर में परिवार के स्वरुप में सर्वाधिक परिवर्तन आया है। आज परिवार का अर्थ पति-पत्नी और बच्चों तक सीमित हो गया है। संयुक्त परिवार अब अतीत की बात हो गयी है। इसका स्थान एकल परिवार व्यवस्था ने ले लिया है। बाज़ारवादी विचार ने भारतीय समाज में अमेरिकी समाज की मान्यताओं, परम्पराओं, संस्कारों को स्थान दिलाया है। इससे भारतीय संस्कारों का ह्रास तो हुआ ही है, भारतीय संस्कारों, परम्पराओं को हेय दृष्टि से भी देखा जाता है।

साहित्य समाज को अभिव्यक्त करता है। साहित्य में बाजारवाद को चित्रित करते हुए, उसके प्रतिरोधी स्वरों का चित्रण भी मिलता है। अर्थ केन्द्रित व्यक्ति, जीवन की आपाधापी, भागदौड़ को चित्रित करते हुए हिन्दी साहित्य ने बड़े स्तर पर भूमंडलीकरण और बाजारवाद के कारण समाज में आए बदलावों को अभिव्यक्त किया है। बाजारवाद ने मनुष्य जीवन को भोगवादी, सुविधाजनक बनाया है। बाजारवादी व्यवस्था में जीना मनुष्य के लिए स्वर्ग से बेहतर है। विष्णु नागर की कविता इसी और संकेत करती है –

"लगता है स्वर्ग की कल्पना
कुछ जल्दी कर ली गयी है इसलिए
उसमें न फ्रिज है, न टीवी, न एसी, न लैपटॉप है
स्वर्ग में बाज़ार नहीं है, भूमंडलीकरण नहीं है"[4]

बाज़ार ने व्यक्ति को अपना आदी बना दिया है। बाज़ार के आकर्षणों में व्यक्ति मानसिक रूप से गुलाम हो रहा है। बाज़ार के प्रभाव को व्यक्त करती केदारनाथ सिंह की कविता है –

"कलम छोड़ दो मेज पर, कागज़ रख दो द्वार
सारी दुनिया जा रही, कवि जी चलो बाज़ार"[5]

आज स्त्री घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर अपने सपनों को पूरा कर रही है। भूमंडलीकरण और बाजारवाद के चलते स्त्रियों के जीवन में, उनकी सोच में जो परिवर्तन आया है उसको मिथिलेश श्रीवास्तव अपनी कविता स्त्री की इच्छाएँ में लिखते है–

"मुझे इस तरह नहीं रहना यहाँ की होते ही शाम
जिन्दगी ही बेमतलब लगने लगे

डराने लगे अँधेरा चिढ़ाने लगे रात
सुबह सुबह बिस्तर पर ही।
एक प्यासी चाय तुम्हारे हाथ की बनी हुई।
तुम्हारे साथ चाहिए। सुबह के अख़बार के साथ''[6]

हिन्दी कथा साहित्य में भी समाज पर बाजारवाद के प्रभाव को अभिव्यक्त किया गया है। पंकज सुबीर की कहानी 'सदी का महानायक उर्फ़ कूल-कूल तेल का सेल्समैन' बाजारवाद में खरीदने की होड़ को बताती है कि पैसा न होने पर भी आप खरीदो और खरीदते जाओ। पैसा बाद में दे देना। इसके लिए 'क्रेडिट कार्ड' की व्यवस्था भी है। 'उधार लो और ऐश करो' बाजारवाद का मंत्र है –

''ठीक है लो ये तुम्हारा क्रेडिट कार्ड है। अब जेब तंग होने का रोना मत रोना। जितना चाहो खरीददारी करो, जब चाहो, खरीददारी करो, करो करते रहो, करते रहो

'पर इसके भी पैसे तो जमा करने ही होते हैं न'– मैंने झिझकते हुए कहा

हाँ पर चालीस दिन बाद, तब तक तो ऐश कर ही सकते हो न''[7]

साहित्य भूत, वर्तमान के साथ संभावित भविष्य का भी वर्तमान की परिस्थितियों के आधार पर लेखन करता है। 1990 ई. में आयी संजय खाती की कहानी 'पिंटी का साबुन' भूमंडलीकरण और बाजारवाद के दुष्परिणामों की कहानी है। जहाँ एक साबुन द्वारा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की चकाचौंध का प्रभाव दिखाया गया है–''हर कोई साबुन देखने को बेकल था। सारे गाँव में जंगल की आग की तरह यह बात फैल गयी थी। लोग मुझे रोक लेते, कोई बहाना खोजकर घर चले आते। वे चाहते थे की मैं उनको साबुन दिखा दूँ।''[8]

बाढ़ के पानी की तरह बाज़ारवाद के उत्पाद घरों में प्रवेश कर रहे हैं। इन उत्पादों की बाढ़ को हम दरवाजे बंद करके नहीं रोक सकते हैं। अगर हम ऐसा करते भी हैं तो बाज़ार डिस्काउंट और सेल का लालच दे कर हमसे दरवाजे खुलवा लेता है। ज्ञान चतुर्वेदी ने अपने उपन्यास 'पागलखाना' में कुछ इस प्रकार लिखा है–''बाज़ार का एकदम गजब का इन्तेजाम है कि चीजें अब सीधे ही आपके दरवाजे के अंदर घुसकर बेचीं जा रही हैं। एक बार धीरे से भी बोल भर दो तो वे सामान को सीधे घर आकर, वह भी खासे डिस्काउंट पर डिलीवर कर रहे हैं।''[9]

बाजारवाद, उपभोक्तावाद और दिखावे की संस्कृति के कारण व्यक्ति आय से अधिक खर्चा करता है। इसके लिए वह बैंक से लोन लेता है। अलका सरावगी इस उधार की संस्कृति का चित्रण अपने उपन्यास 'शेष कादम्बरी' में करती हैं– ''इस तरह की भीड़, जो बैंक फाइनेंस पर रोज नई-नई गाड़ियाँ खरीदकर बढ़ाई जा रही हैं, जिससे सेकेंड हैण्ड गाडियों का मार्किट एकदम गिर गया है। सड़के तो उतनी ही रहेंगी, यह फर्स्ट हैण्ड और सेकेंड हैण्ड की बढ़ोतरी

का सिलसिला कब तक चलेगा? चलो, वे तो उस दिन को देखने को शायद ही बचेंगी, जब स्थितियाँ एक चरम बिंदु पर पहुँच जाएँगी।''[10]

बाजारवाद आज घर-घर में प्रवेश कर चुका है। आज समाज में नवीन आकर्षणों की बाढ़ सी आ गयी है। इसी क्रम में सोशल मीडिया, इंटरनेट द्वारा व्यक्ति मनोरंजन तलाश रहा है। वह साहित्य से कोसों दूर होता चला जा रहा है। साहित्य जिसके द्वारा हम समाज के विभिन्न आयामों को देख पाते हैं। आज समयाभाव, अर्थ केन्द्रित जीवन की भागदौड़ के बीच साहित्य पढ़ने और उसको जीवन में गहरा स्थान देने वाले व्यक्तियों की संख्या कम हो रही है। वर्तमान दौर में जो साहित्य गढ़ा और पढ़ा जा रहा है वह अधिकतर बाजारवाद के प्रभाव से धन प्राप्ति के लिए लिखा जा रहा है। उसमें जीवन का ठहराव या जीवन दर्शन की बात नहीं है। कुछ इसी तरह का साहित्य आज नई हिन्दी में लिखा जा रहा है। साहित्य प्रेमी या साहित्य सेवी का भाव उसमें नगण्य ही है। आज धूम-धड़ाके के समय में कितने लोग साहित्य का अध्ययन करना चाहेंगे? आज साहित्य को मनोरंजन के केंद्र में लाने की आवश्यकता है। परम्परागत साहित्य आज कम मात्रा में पढ़ा जा रहा है। एक समय था जब बसों, रेलों में लोग समय व्यतीत करने के लिए भी साहित्य का सहारा लेते थे। वैसा साहित्य जिसके केंद्र में केवल मनोरंजन ही होता है, उस तरह का साहित्य भी आज लोग कम पढ़ रहे हैं। आज इसका स्थान मोबाइल, इंटरनेट ने ले लिया है। साहित्य की लोकप्रियता भाषा के बंधनों को भी तोड़ देती है। देवकीनंदन खत्री के उपन्यास चंद्रकांता के विषय में कहा जाता है कि उसको पढ़ने के लिए बहुत से लोगों ने हिन्दी सीखी। यह बात इस ओर संकेत करती है कि साहित्य का व्यक्ति के जीवन में क्या स्थान है। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है। आज के जनसमूह में अधिकांश का हृदय और मानसिकता बाजारवादी है। आज मनुष्य बाज़ार को जीता, ओढ़ता, खाता, पीता है। वह अपनी दिनचर्या में हर ओर बाज़ार को पाता है। व्यक्ति बाज़ार का दास हो चुका है। बाज़ार की इस दासता में भी वह सुख का अनुभव करता है। ऐसे समय में साहित्य का व्यक्ति के जीवन में क्या स्थान रह जायेगा? आपके लैपटॉप में एक अच्छी फिल्म है और आपके बैग या अलमारी में एक अच्छी साहित्य की पुस्तक है। ऐसे में आप किसको समय देगें? इस तरह साहित्य बैग में या अलमारी में सजा रह जाएगा। आपने 2 घंटे की फिल्म देख ली अब आपकी इच्छा साहित्य पढ़ने की हुई। पुस्तक के लिए अलमारी तक पहुँचने के बीच आपको अपने घर में लगे एक बाज़ार से गुजरना पड़ेगा, जो आपको अपनी ओर आकर्षित करेगा। ये सारे बाज़ार के आकर्षण साहित्य के लिए चुनौतियाँ हैं। जैसे जीवन जड़ नहीं है, वैसे ही साहित्य को भी मूल्य, मानदंडों को लेकर स्थिर, जड़ नहीं होना चाहिए। जब साहित्य समाज की चुनौतियों के हिसाब से ढल सकेगा, तभी वह समाज की ढाल बन सकेगा। समय की मांग के अनुसार यदि साहित्य लिखा नहीं जायेगा तो साहित्य का पाठक वर्ग तक पहुँचना

असंभव हो जायेगा। ऐसा साहित्य केवल पुस्तकालयों, उससे सम्बंधित विद्यार्थियों तक ही सीमित हो जाता है। जबकि साहित्य की पहुँच समाज के अधिकाधिक लोगों तक होनी चाहिए। कुछ लोगों तक ही पहुँच होने पर साहित्य घुटन का अनुभव करेगा। साहित्य की स्वतंत्रता इस बात पर निर्भर है कि जनसामान्य में उसका पठन-पाठन कितना हो रहा है। आज बाजारवाद के दौर में हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो बाजारवाद के कारण साहित्य के समक्ष उत्पन्न चुनौतियों का सामर्थ्य के साथ उत्तर दे सके। ऐसा साहित्य जो जनसामान्य तक पहुँचे और जनसामान्य उसे सहजता के साथ ग्रहण कर सके। बाजारवाद ने आज व्यक्ति का जीवन आरामदायक बनाया है। इसके लिए साहित्य भी आज ऐसा होना चाहिए, जिसमें संप्रेषणीयता का गुण हो। साथ ही साहित्य की उदात्त भावना भी बनी रहे। साहित्य को पढ़ने से शांति या संतोष मिलता है। बाजारवादी समय में साहित्य व्यक्ति को जीवन में संवेदनशीलता और संतुष्टि प्रदान कर सकता है। साहित्य में बाजारवाद और उसका जो प्रतिरोध किया गया है, उसको पढ़कर पाठक बाजारवाद के सकारात्मक और नकारात्मक पहलुओं को जान सकता है।

हम कह सकते हैं कि बाज़ारवाद ने व्यक्ति और साहित्य के बीच दूरियाँ पैदा करने का भी काम किया है। दूसरी ओर भूमंडलीकरण और बाजारवाद से साहित्य के लिए कुछ सकारात्मकता भी सामने आती है। तकनीकी से आज साहित्यिक पुस्तकें इंटरनेट पर उपलब्ध हो रही हैं। तकनीक से साहित्य मोबाइल, इंटरनेट द्वारा सुलभ हो रहा है। आज इंटरनेट, ब्लॉग आदि के माध्यम से भी साहित्य सृजन हो रहा है और उसी के द्वारा साहित्य जन समूह तक पहुँच भी रहा है। गंभीर और समर्पित पाठक इसका पर्याप्त लाभ उठा रहे हैं। साहित्य के सामने कई चुनौतियाँ है। परम्परागत साहित्य के बलबूते बाजारवाद के विरुद्ध साहित्य लड़ाई नहीं लड़ सकता। साहित्य को भी आत्ममंथन करने की आवश्यकता है जिससे साहित्य लोगों तक पहुँचे। साहित्य को अपने संविधान का संशोधन करने की आवश्यकता है। बाजारवाद की चुनौतियों से लड़ने के लिए साहित्य में संप्रेषणीयता के साथ गेयता, रसमयता, लयात्मकता, सरलता को रचना के केंद्र में लाने की आवश्यकता है। बाजारवाद जहाँ मानवीय मूल्यों का क्षरण करता है, वहीं साहित्य मानवीय मूल्यों का रक्षक, अभिभावक है। साहित्य स्वयं में एक आकर्षण है। साहित्यकार साहित्य में अपनी बात को रोचकता के साथ प्रस्तुत करता है। साहित्य से व्यक्ति इस प्रकार जुड़ जाता है कि वह केवल पाठक न रहकर साहित्य में चल रही कथा, कविता का मर्म, विचार जानते हुए उसका भाग भी हो जाता है। चाहे व्यंग द्वारा बात कही जाये या जीवन की कोई गंभीर बात साहित्य में हो वह रसात्मकता, प्रभाव के साथ प्रस्तुत की जाती है इसीलिए साहित्य सदैव से मनुष्य जीवन के केंद्र में रहा है। मनुष्य ने आदिकाल से ही साहित्य से मनोरंजन, उपदेश, सामाजिक-सांस्कृतिक ज्ञान, गंभीर दार्शनिक विचारों को प्राप्त किया। साहित्य द्वारा मनुष्य में उदात्त भावों का संचार भी हुआ। निश्चित रूप से हमें बाजारवाद के सकारात्मक पक्ष को जीवन में स्थान देना है। किन्तु बाजारवाद

के नकारात्मक पक्ष के प्रति आकर्षण और साहित्य के प्रति आकर्षण के बीच हमें किसी एक का चयन करना होगा। यदि हम साहित्य का चयन करते हैं तो हमें साहित्य में उसके मूल्यों, उदात्त भावों को समाहित करते हुए साहित्य को और अधिक आकर्षित बनाना होगा। जिससे साहित्य की चमक बाजारवाद की चमक से अधिक रहे।

निष्कर्ष रूप में भूमंडलीकरण, निजीकरण और उदारीकरण को भारत में जिन परिस्थितियों में लागू किया गया और इससे जो उम्मीदें बाँधी गयी, उसमें जहाँ एक ओर व्यक्ति का जीवन स्तर बेहतर हुआ वहीं आर्थिक असमानता में बढ़ोत्तरी भी हुई। कोरोना काल में जब बाज़ार बंद किये गये तब जन-समूह में अफरा-तफरी का माहौल बन गया था। पर धीरे-धीरे लोगों ने आवश्यकता (नीड), सुविधा (कंफर्ट), और विलासिता (लग्जरी) के बीच का अंतर समझ लिया। इसी समय 'वोकल फॉर लोकल' के विचार ने वैश्विक महामारी के दौर में स्थानीय उत्पादों का प्रयोग करने पर जोर दिया। साहित्य मानव के हृदय में आशा का संचार करता है। भले ही आज बाजारवाद ने अपनी जड़े जमा ली हैं और उसके जमने से हर ओर ही बाजारवाद का शोर सुनाई दे रहा है, पर उस शोर के बीच साहित्य की मध्यम, मंद आवाज कभी भी निष्प्रभावी नहीं हो सकती। आज का साहित्यकार बाजारवाद के सकारात्मक पहलुओं के साथ तालमेल स्थापित करके साहित्य का सृजन कर रहा है। जगदीश चतुर्वेदी के शब्दों में ''संचार माध्यमों या दूरदर्शन या विविध टी.वी.चैनलों की चमकीली भड़कीली दुकान को कोसने से कोई लाभ नहीं होगा, 21वीं सदी का लेखक या साहित्यकार इनका उपयोग साहित्य की विविध विधाओं के विकास के लिए करेगा। पठन-पाठन के साथ ही दृश्य संचार माध्यमों से कलाकार और साहित्य के रिश्ते जुड़ेगे। साहित्यकार इन माध्यमों से साहित्य का प्रसार करने के लिए उन्मुख होंगे।''[11]

* प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय।

**पी-एच.डी. शोधार्थी, हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय।

संदर्भ -

1. खेतान, प्रभा. भूमंडलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र : सामयिक प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 2010, पृष्ठ-15
2. सिंह, पुष्पपाल. भूमंडलीकरण और हिन्दी उपन्यास : राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2012, पृष्ठ-179
3. दुबे, अभय कुमार. भारत का भूमंडलीकरण : वाणी प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 2007, पृष्ठ-245
4. नागर, विष्णु. घर के बाहर घर : अंतिका प्रकाशन, 2010
5. सिंह, केदारनाथ. तालस्ताय और साइकिल : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005
6. कमल, अरुण (सं). आलोचना (त्रैमासिक) : अंक-44, (जनवरी-मार्च, 2012 ई.), पृष्ठ-51-52
7. सुबीर, पंकज. महुआ घटवारिन और अन्य कहानियाँ : सामयिक प्रकाशन, 2018, पृष्ठ-19
8. चौधरी, उमा शंकर(सं), चावला, ज्योति(सं). श्रेष्ठ हिन्दी कहानियाँ(1990-2000) : पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 2010, पृष्ठ 100
9. चतुर्वेदी, ज्ञान. पागलखाना : राजकमल प्रकाशन, 2018, पृष्ठ 26
10. सरावगी, अलका. शेष कादम्बरी : राजकमल प्रकाशन, तीसरा संस्करण, 2016, पृष्ठ 142,
11. केसर, डॉ कीर्ति. हिन्दी साहित्य : 21वीं सदी की चुनौतियाँ : नवराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2002, पृष्ठ 47-48

राष्ट्रीयता एवं भारतीय भाषाएँ

- डॉ. तारु एस. पवार

मनुष्य जिस समाज में रहता है उसकी संस्कृति एवं सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भाषा का निर्माण करता है और फिर उसी भाषा द्वारा रचनात्मक कार्य करता है। इस तरह मनुष्य अपने विचारों का आदान-प्रदान करने के लिए भाषा को एक सम्प्रेषण का माध्यम बनाता है। तभी हर व्यक्ति की अपनी भाषा होती है और भाषा द्वारा ही उस व्यक्ति की सही पहचान होती है। इसलिए उत्तर भारत से दक्षिण भारत आने वाला व्यक्ति हिन्दी भाषी कहलाता है, तो दक्षिण से उत्तर भारत जाने वाला व्यक्ति द्राविड़ भाषी। यहाँ दो अलग-अलग भाषा परिवार के होने पर भी उनके बीच भाषा और देश प्रेम का अटूट सम्बन्ध रहता है। पाश्चात्य विद्वान विक्टर ह्यूगो का कथन है– ''संसार में विचारों से शक्तिशाली कुछ भी नहीं होता है।'' परन्तु ऐसे शक्तिशाली विचारों को व्यक्त करने का साधन भाषा ही है।

भारत एक बहुभाषी देश है। संसार में साढ़े तीन हजार से अधिक भाषाएँ बोली जाती हैं और भारत में चार भाषा परिवारों की लगभग 1652 भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें 1455 भाषाएँ दस हजार से कम लोग बोलते हैं। बाकी के 197 भाषाएँ बोलने वालों की संख्या ज्यादा है। उनमें से चौदह भाषाओं को भारत के संविधान निर्माताओं ने देश की प्रधान भाषा मानकर अष्टम अनुसूची में रखा था। ये भाषाएँ हैं - 1. असमिया 2. उड़िया 3. उर्दू 4. कन्नड 5. कश्मीरी 6. गुजराती 7. तमिल 8. तेलगु 9. पंजाबी 10. बंगला 11. मराठी 12. मलयालम 13. संस्कृत और 14. हिन्दी। इनके बोलने वालों की संख्या 98% प्रतिशत थी। आगे चलकर सिन्धी, नेपाली, कोंकणी एवं मणिपुरी भाषाओं को भी अष्टम अनुसूची के अंतर्गत जोड़ा गया। इसलिए सन् 1991 की जनगणना के अनुसार इन भाषाओं के बोलने वालों की संख्या 99.92% प्रतिशत है। ये भाषाएँ मुख्य रूप से संसार के तीन भाषा परिवारों की हैं– भारोपीय परिवार के अंतर्गत असमिया, उड़िया, उर्दू, कश्मीरी, गुजराती, पंजाबी, बंगला, मराठी, सिन्धी, कोंकणी, नेपाली, संस्कृत एवं हिन्दी, द्रविड़ परिवार के अंतर्गत तमिल, तेलगु, मलयालम एवं कन्नड़ है तथा तिब्बती-चीनी परिवार के अंतर्गत मणिपुरी है।

उपरोक्त प्रधान भाषाओं में और अपने अखिल भारतीय संदर्भ में हिन्दी को भारत वर्ष की प्रमुख राजभाषा के रूप में मान्यता मिली है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343(1) के अनुसार 'संघ की राजभाषा' हिन्दी है तो हमारी राष्ट्रलिपि देवनागरी है। हिन्दी संघ की राजभाषा बनने का कारण यह नहीं है कि वह अन्य भारतीय भाषाओं में सर्वश्रेष्ठ है। इसको राजभाषा का अधिकार मिलने का प्रमुख कारण यह है कि जन सम्पर्क की भाषा होने के साथ-साथ क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से वह देश के सबसे बडे भू-भाग की भाषा है। यह देश के ग्यारह प्रदेशों (उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, छत्तीसगढ, उत्तरांचल, झारखंड, दिल्ली, अंडमान-निकोबार द्वीप समूह) की प्रधान भाषा है और 42.88 प्रतिशत लोग इसे बोलते हैं। भारतीय भाषाएँ अपने-अपने क्षेत्रीय नाम से जाने जाते हैं तो हिन्दी हिन्द देश की भाषा के रूप में जानी जाती है। यहाँ कोई भी भाषा उच्च-निम्न या प्रधान-गौण नहीं है। ये सभी भाषाएँ हमारे देश की राष्ट्रभाषाएँ हैं और इसके साथ संघ की राजभाषा का गौरव हिन्दी को प्राप्त हुआ है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि भारत में संस्कृत, तमिल एवं उर्दू को छोड़कर सभी भारतीय भाषाओं का उद्‌गम लगभग समान यानी दसवीं सदी के आस-पास माना जाता है। आज इन प्रमुख भाषाओं की अपनी संस्कृति, धर्म, राजनीति, साहित्य और अपने संस्कार एवं सभ्यता है, फिर भी उसके मूल में राष्ट्रीयता है। इसालिए हर भाषा के व्यक्ति को भारत रत्न, राष्ट्रकवि, राष्ट्रनेता, ज्ञानपीठ आदि द्वारा राष्ट्रीय महापुरुष जैसा गौरव प्राप्त होता है।

इस तरह भिन्न-भिन्न भाषाओं के भीतर बहने वाली हमारी भावधारा एक है। हमारे साहित्यकार प्रायः एक ही तरह के विचारों एवं कथा वस्तुओं को लेकर अपनी-अपनी भाषाओं में साहित्य की रचना करते हैं। रामायण और महाभारत को लेकर भारत की सभी भाषाओं में रचना की गयी है। इतना ही नहीं संस्कृत एवं प्राकृत में लिखा गया भारत का साहित्य केवल प्रभावित ही नहीं किया बल्कि सभी भाषाओं की जड़ में काम कर रहा है। इसके साथ भारतीय दर्शन एवं साहित्य भी अनेक भाषाओं में लिखे जाने पर, अन्त में एक ही साबित होते हैं, जो भारतीय जनता की एकता के असली आधार है। यहाँ लिपियाँ अनेक हैं पर वर्णमाला एक जैसी ही है। यही हमारी राष्ट्रीयता का प्रतीक है।

इस तरह हमारी विविध भाषाओं के साहित्य का समष्टि रूप ही राष्ट्रीय या भारतीय साहित्य कहलाता है। इन भाषाओं का साहित्यिक एवं वैज्ञानिक महत्त्व है। इनमें से प्रत्येक का अपना साहित्य है। इन साहित्यों का अपना स्वतंन्त्र एवं प्रखर वैशिष्ट्य है। ये सभी भारतीय साहित्य की महत्त्वपूर्ण इकाइयाँ हैं, उसका मिला-जुला अस्तित्व है एवं भारतीय जीवन की अनेकता में एकता को अभिव्यक्त करने वाली उपलब्धियाँ हैं। इसलिए

इन सब को अनेकता में एकता स्थापित करने वाली राष्ट्रीयता की झनकार कहा जा सकता है। जब हम हिन्दी साहित्य को लेते हैं तो पाते हैं कि प्रसाद, पंत, निराला, प्रेमचन्द, अज्ञेय आदि खड़ीबोली के साहित्यकार हैं तो जायसी, सूर, तुलसी, विद्यापति आदि अवधी, ब्रज, मैथिली आदि भाषाओं के साहित्यकार हैं, फिर भी इन्हें एक ही भाषा के अंतर्गत समाहित करते हैं। यहाँ विभिन्न बोली या भाषा के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला साहित्य एक है, क्योंकि इनकी हिन्दी भाषाई समाज की जातीय चेतना एक है। उसी तरह तमिलनाडु का तमिल भाषी, आन्ध्र प्रदेश का तेलगु भाषी, महाराष्ट्र का मराठी भाषी, बंगाल का बंगला भाषी आदि सभी अपनी तमाम क्षेत्रीय विशिष्टताओं के बावजूद सब भारतीय हैं। अतः उन सब साहित्य को राष्ट्रीय या भारतीय साहित्य के अंतर्गत रखा जाता है, क्योंकि भारतीय समाज की ऐतिहासिक परम्परा, सांस्कृतिक मूल्य एवं रचना संवेदना समान धर्मी है और उन कृतियों में भावबोध और शिल्पगत विन्यास की प्रकृति भी एक है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारत सदियों से बहुजातीय, बहुसांस्कृतिक एवं बहुभाषिक देश रहा है, पर देशकाल से जुड़ी इन समस्त विभिन्नताओं के बावजूद हमें यहाँ एक विलक्षण अभिन्नता भी दिखाई देती है।

भारतीय भाषाओं में रची गयी साहित्य की आत्मा एक है, क्योंकि हमारे कवि या साहित्यकार वैयक्तिक मन को व्यक्त न कर सामूहिक मन को अभिव्यक्त करते हैं। इसके अलावा सभी भाषाओं का जन्मकाल एक समान है और साहित्य का प्रारंभ भी लगभग एक जैसा प्रतीत होता है। आदिकाल का साहित्य पन्द्रहवीं शदी तक चलता रहा और चरित्र-प्रधान एवं श्रृंगार साहित्य का उद्‌गम भी इस काल के सभी भाषाओं में मिलता है। इसके बाद मध्य युग या भक्तिकाल की बात होती है तो इसमें भी सूफी, संत, शरण, रामभक्ति, कृष्णभक्ति आदि भी समान रूप से चलती दिखाई देती है। राजनीतिक जीवन का विकासक्रम देखें तो शताब्दियों तक राजनीतिक व्यवस्था भी एक समान है।

भारतीय भाषाओं के परिवार अलग-अलग है, पर साहित्यिक सम्पत्ति एक समान है। रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत, कालिदास, भवभूति आदि अमर कृतियाँ, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि में लिखित बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को विरासत में मिली है। प्रारंभ में हिन्दी का नाथ साहित्य का प्रभाव भारतीय भाषाओं में देखा जा सकता है। जैसे तेलगु में रचित 'नवनाथचरित्रम्' इसका प्रमाण है। मराठी में तो स्वयं गोरखनाथ की वाणी मिलती है—'अमरनाथ सनवड' और बंगला को तो नाथ साहित्य का गढ़ माना जाता है। इसके अलावा असमिया, उड़िया एवं पंजाब में भी नाथ सम्प्रदाय का प्रभुत्व रहा है।

नाथ साहित्य की तरह भारत की अधिकांश भाषाओं में चारण काव्य की भी प्रवृत्ति रही है। तमिल में 'पतुप्पाट्टु', तेलगु में श्रीनाथ का काव्य 'सिलप्पदिकारम्', मलयालम में 'पझय पाट्टुकल', मराठी में 'पवाडे के गीत', गुजराती में 'रसमल्लछंद', हिन्दी में तो वीरगाथा काल या चारण काल नाम से ही आदिकाल को बुलाते हैं। संतकाव्य की दृष्टि से तमिल के 'अठारह सिद्धर', तेलगु में 'वेमन' एवं 'वीरब्रह्म', कन्नड के 'सर्वज्ञ' मराठी के ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, उड़िया के 'कंध', पंजाबी के गुरुनानक, हिन्दी में कबीर, दादू दयाल आदि द्वारा लिखित काव्य समृद्ध संत काव्य है। इसी तरह प्रेमाख्यानक काव्य एवं वैष्णव काव्य की प्रवृत्तियाँ भी भारतीय भाषाओं में विपुल रूप में मिलती है।

भारतीय भाषाओं में आधुनिक काल का प्रारंभ लगभग 1850 से माना जाता है। इनके सभी साहित्य में पुनर्जागरण, जागरण सुधार, रोमानी सौन्दर्य दृष्टि, साम्यवादी सामाजिक चेतना का उदय आदि एक साथ दिखाई देती है। तमिल में पुनर्जागरण के प्रमुख कवि थे रामलिंग स्वामीगल परन्तु सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्रान्ति को वाणि देनेवाले कवि सुब्रह्मण्य भारती थे। तेलगु में पुनर्जागरण युग का प्रारंभ करने वाले साहित्यकार वीरेश लिंगम्थे, कन्नड के श्रीकंठैया, शंकर भट्ट, मलयालम के केरल वर्मा, वेनमणि, बंगला के ईश्वर गुप्त, मदसुदन दत्त, बंकिमचन्द्र आदि थे। इसी तरह मराठी, असमिया, उड़िया, उर्दू, हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में भी पुनर्जागरण से सम्बन्धित साहित्य एवं साहित्यकार भी मिलते हैं।

वर्तमान में वैश्वीकरण की स्थापना ने भारतीय भाषाओं को सबसे अधिक महत्त्व दिया है। एक देश के विकास के लिए दो महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है। एक अर्थव्यवस्था है तो दूसरा भाषा का प्रयोग। अर्थव्यवस्था की दृष्टि से विकास होना है तो उत्पादन बहुत ही आवश्यक है। उत्पादन जितना आवश्यक है वितरण करना भी उतना ही आवश्यक है। इसके लिए भाषा की जरूरत होती है। इसलिए वैश्वीकरण में भारतीय भाषाओं को अधिक महत्त्व दिया गया है। उनमें विशेष स्थान हिन्दी का रहा है। भाषा जो भी रही हो लेकिन है भारतीय। इस तरह आज पूरे विश्व में भारतीय भाषाओं का योगदान स्मरणीय है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि कुछ कठिनाइयों के अलावा भारतीय भाषाओं में अभिव्यक्त सभ्यता, भावनाएँ एवं विचार एक समान हैं। तीन-चार परिवार में विभाजित होने पर भी सभी की भूमि मधुर रस से परिपूर्ण है। इन सभी का साहित्य भी विश्वकल्याण की भावना से प्रेरित राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना और युवा समाज की नवीनता से भरपूर है। कुल मिलाकर भारतीय भाषाओं को अगर देखा जाये तो यह प्रतीत होता है कि विश्व का ऐसा कोई देश नहीं जिसने इतनी सारी भाषाओं के पश्चात् एकता के साथ

अपने धर्म, अपनी संस्कृति, परम्परा, सभ्यता आदि का पालन कर अपने देश के सम्मान एवं गौरव को सर्वश्रेष्ठ बनाया हो।

अंत में हिन्दी के संदर्भ में डॉ. जाकिर हुसैन का कथन है– ''हिन्दी वह भाषा है जो विभिन्न मातृ भाषाओं रूपी फूलों को पिरोकर भारत माता के लिए सुन्दर हार का सृजन करेगी।''

उपाचार्य एवं विभागाध्यक्ष
हिन्दी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
केरल केन्द्रीय विश्वविद्यालय, पेरिया, कासरगोड़-671320

संदर्भ -

1. डॉ. अब्दुल अलीम – भारतीय भाषाएँ और देवनागरी(राष्ट्रभाषा- फरवरी, 2005)
2. डॉ. विमलेश कांति वर्मा – भारतीय भाषाएँ और हिन्दी(भाषा- मई-जून 2004)
3. डॉ. ऋषभ देव शर्मा – हिन्दी साहित्य का अधुनातन संदर्भः भारतीय भाषाओं के अंतःसंबंध के आलोक में
4. डॉ. गोपाल शर्मा – भारतीय भाषा पत्रकारिता की अंतर्छनहित एकता
5. डॉ. चन्द्रलेखा – हिन्दी और भारतीय भाषाओं का अंतःसमेबन्ध
6. डॉ. गोवर्धन ठाकुर – दक्षिण भारत में राजभाषा का संदर्भ
7. डॉ. चन्दुलाल दूबे – कर्नाटक में हिन्दी प्रचार।
8. डॉ. निर्मला एम. मौर्या – तमिलनाडु में हिन्दी प्रचार और राष्ट्रीय एकता में उसका योगदान।
9. डॉ. दीलिप सिंह – व्यवसायिक हिन्दी

प्रशासन और राजभाषा हिन्दी

– आर.पी. सिंह

संविधान के लागू होने के बाद लगभग 45 वर्ष बीतते-बीतते राष्ट्रीय स्तर पर भाषागत परिदृश्य में काफी बदलाव आया है। जहाँ आरम्भ में प्रशासन में अंग्रेजी का वर्चस्व था, वहीं यद्यपि यह अभी भी संप्रेषण का महत्वपूर्ण माध्यम है परन्तु हिन्दी ने भी धीरे-धीरे अपनी पहचान कायम की है। केन्द्र सरकार के कार्यालयों में तो अब प्रायः बराबर-बराबर कार्य हिन्दी और अंग्रेजी में होने लगा है। तथापि, संविधान निर्माताओं द्वारा जिस भाषाई स्थिति की परिकल्पना संविधान लागू होने के 15 वर्षों के अंदर की गई थी हम अभी तक उससे काफी दूर हैं। संविधान द्वारा संघ सरकार को राजभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार का दायित्व सौंपा गया है। इसलिए राजभाषा नीति के सुचारू क्रियान्वयन पर समीक्षा के लिए सर्वप्रथम संघ सरकार के प्रशासनिक कार्यों में हिन्दी के प्रयोग पर नजर डालना उपयुक्त होगा। अस्तु प्रस्तुत लेख में केन्द्र सरकार के कार्यालयों/संस्थानों के प्रशासनिक कार्यों में हिन्दी के प्रयोग में अपेक्षित प्रगति न होने के कारणों पर चर्चा करने का प्रयास किया गया है।

हिन्दी को संघ की राजभाषा के रूप में संविधान सभा ने 14 सितम्बर 1949 को अंगीकार किया था। उस समय तक सारा सरकारी काम-काज अंग्रेजी में चल रहा था; इसलिए तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए यह भी तय किया गया था कि संविधान लागू होने की तारीख से अगले पन्द्रह वर्षों तक अंग्रेजी में ही राजकाज चलता रहेगा। पन्द्रह वर्ष की यह अवधि अंग्रेजी मे कार्य करने वाले तंत्र को हिन्दी में काम करने की आदत डालने, कर्मचारियों को हिन्दी में प्रशिक्षित करने, शब्दावलियों का निर्माण तथा हिन्दी में यांत्रिक सुविधाओं को जुटाने के लिए दिया गया था। यह भी प्रावधान किया गया था कि इस बीच हिन्दी का इस तरह विकास किया जाये कि ''वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके''। भारत के संविधान में हिन्दी का उल्लेख कई रूपों में मिलता है। यथा, राजभाषा हिन्दी-अनुच्छेद 343, संपर्क भाषा हिन्दी-अनुच्छेद 351 और संविधान की आठवीं अनुसूची में 18 अन्य भाषाओं के साथ दर्ज हिन्दी भाषा। उपरोक्त के अलावा अनुच्छेद 120 और 210 में भी हिन्दी भाषा का उल्लेख मिलता है।

अंग्रेजी को केवल जनवरी 1965 तक संघ की राजभाषा के रूप में कार्य करते रहने की

अनुमति दी गई थी। इसी बीच कार्यालयीन हिन्दी के नए रूपों तथा शब्दावली का कुछ अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में विरोध किया गया तथा कतिपय राजनीतिक दबावों के चलते राजभाषा अधिनियम 1963 के द्वारा अंग्रेजी को अनिश्चित काल के लिए संघ की सह-राजभाषा बने रहने की व्यवस्था कर दी गई। इससे पूर्व 1955 तथा 1960 के राष्ट्रपति के आदेशों द्वारा क्रमशः संघ के आंतरिक कार्य में हिन्दी और अंग्रेजी के प्रयोग की व्यवस्था तथा सरकारी कर्मचारियों के लिए हिन्दी प्रशिक्षण, अनुवाद और शब्दावली निर्माण आदि की व्यवस्था की जा चुकी थी।

1963 के राजभाषा अधिनियम में संघ और राज्य सरकारों के बीच पत्र व्यवहार की भाषा, सामान्य आदेश तथा संसद में रखे जाने वाले कागज-पत्रों के द्विभाषी रूप की व्यवस्था की गई तथा इसी अधिनियम द्वारा संसदीय राजभाषा समिति के गठन तथा नियम-अधिनियम के प्राधिकृत हिन्दी अनुवाद का भी प्रावधान किया गया। इसके अलावा, राजभाषा संकल्प, 1968 के द्वारा राजभाषा कार्यान्वयन के लिए वार्षिक कार्यक्रम, वार्षिक रिपोर्ट तथा कतिपय केन्द्रीय सेवाओं के लिए परीक्षाओं में हिन्दी के विकल्प की भी व्यवस्था की गई। राजभाषा अधिनियम के अनुसरण में राजभाषा नियम 1976 के द्वारा राज्यों को 'क', 'ख' और 'ग' क्षेत्रों में बांटकर पत्राचार का माध्यम नियत किया गया तथा हिन्दी के प्रगामी प्रयोग हेतु कतिपय नियम बनाए गए।

हिन्दी को संघ की राजभाषा का दर्जा देने के बाद संघ सरकार पर इस बात का उत्तरदायित्व डाला गया कि वह इसके क्रियान्वयन का क्रमबद्ध प्रयास करे। तदनुसार, संघ सरकार के विभिन्न कामकाजों में हिन्दी के प्रयोग के लिए समय-समय पर विभिन्न नियम-विनिमय इत्यादि बनाए गए जिनका उल्लेख इस लेख में ऊपर संक्षेप में किया जा चुका है। इन सब प्रावधानों के आधार पर सरकारी सेवकों से यह अपेक्षा की गई थी कि वे शीघ्रातिशीघ्र पूरी तरह हिन्दी में काम-काज करने लगेंगे। परिणामस्वरूप, संघ सरकार का काफी कार्य इस समय हिन्दी माध्यम से अथवा द्विभाषी रूप में किया जा रहा है। विशेषकर, 1975 में गृह मंत्रालय के अधीन राजभाषा विभाग के गठन के बाद इस दिशा में समन्वित प्रयास किए गए हैं। लेकिन इस अवधि के दौरान जितनी प्रगति की अपेक्षा थी उसे प्राप्त नहीं किया जा सका है। राजभाषा विभाग द्वारा वर्ष 1995-96 के लिए निर्धारित वार्षिक कार्यक्रम को देखा जाए तो इसके लक्ष्यों और वास्तविक उपलब्धियों के बीच जमीन-आसमान का अंतर है। प्रश्न उठता है कि कार्यालयों में हिन्दी के प्रयोग में क्या वास्तविक समस्याएँ हैं? इस संबंध में कई समस्याओं का उल्लेख किया जा सकता है परन्तु यहाँ पर कुछ प्रमुख समस्याओं का उल्लेख संक्षेप में किया जा रहा है।

1. अनुवादी भाषा, शब्दावली और वाक्य संरचना

हमारे देश में संघ सरकार के कार्यों में हिन्दी का प्रयोग मूलरूप में न होकर अनुवाद के माध्यम से शुरू किया गया है। इसलिए शब्दावली और वाक्य-संरचना गौण समस्या होते हुए भी एक प्रमुख समस्या के रूप में सामने आई है। यह देखा गया है कि कार्यालयों में जो अनुवाद किए जा रहे हैं उनमें न तो पारिभाषिक शब्दों की सटीकता है, न एकरूपता और न ही वाक्यों तथा शैली का प्रवाह ही है। यहाँ तक कि अनुदित सामग्री में हिन्दी वाक्यों को अंग्रेजी के वाक्यों की तरह रख दिया जाता है। इसके अलावा अंग्रेजी के शब्दों के हिन्दी पर्यायों में सटीकता का अभाव है तथा अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों के अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग हिन्दी पर्याय लिखे जा रहे हैं।

पारिभाषिक शब्दों के बारे में विचार करते हुए नेहरू जी ने काफी पहले कहा था ''पारिभाषिक शब्दों की एक सूची तैयार होनी चाहिए। मैं यह जरूर कहूँगा कि पारिभाषिक शब्दों के लिए जो शब्द इस्तेमाल हो रहे हैं उनमें से बहुत से इतने असाधारण रूप से बनावटी और बेमानी हैं कि मुझे उनसे डर लगता है। इसका एक कारण यह है कि उनके पीछे कोई पृष्ठभूमि या इतिहास नहीं हैं।'' पारिभाषिक शब्दावली विकास का पहला प्रयास हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा महापंडित राहुल सांकृत्यायन के नेतृत्व में किया गया था। इसके बाद 1961 में ''विज्ञान और तकनीकी शब्दावली आयोग'' की स्थापना के बाद आयोग ने समय-समय पर कई शब्दावलियां तैयार की। साथ ही केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो द्वारा भी एक समन्वित शब्दावली तैयार की गई है। वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग ने भी 1991 में कम्प्यूटर डाटाबेस आधारित वृहत् प्रशासन शब्दावली प्रकाशित की है। फिर भी निरंतर प्रयासों के बावजूद अभी भी यह स्थिति है कि अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी में अनेक पर्याय चल रहे हैं। उदाहरण के लिए :

Agreement :	सहमति
Collector :	जिलाधीश, कलेक्टर, समाहर्त्ता, जिलाधिकारी
D.F.O.:	अरण्यपाल, वन मंडलाधिकारी, प्रभागीय वनाधिकारी
Engineer :	इंजीनियर, यांत्रिक, अभियंता, यंत्री
File :	फाइल, मिसिल, पत्रावली
Instructor :	शिक्षिक, प्रशिक्षक, अनुदेशक
S.D.M. :	उप प्रभागीय अधिकारी उप मंडलाधिकारी, परगनाधिकारी, अनुमंडलाधिकारी, उप जिलाधिकारी

इस संबंध में श्री निहाररंजन राय द्वारा 1967 में कहे गए विचार दृष्टव्य हैं :

"I object to the kind of official Hindi that is being doled out by the Directorate of Hindi

and the Govt. (Language and Society of India)

न केवल पारिभाषिक शब्दों और वाक्यांशों बल्कि सामान्य शब्दों तथा वाक्यांशों में भी जटिलता पाई जाती है। इस प्रकार के कुछ शब्दों के उदाहरण तथा उनके संभावित सरल पर्याय यहाँ दिए जा रहे हैं :

हेतु के लिए, शासकीय-सरकारी, अभियाचना-मांग, अधिवक्ता-वकील, मिसिल-फाइल, प्रवृत्त-लागू, प्रविष्ट-दर्ज, वय-आयु, वयस्क-बालिग, विधि-कानून आदि।

स्पष्ट है कि जो शब्द सामान्य प्रचलन में है उन्हीं का प्रयोग उचित है। इस संबंध में पंडित नेहरू के विचार पुनः द्रष्टव्य हैं-''सबसे पहले हमें हर उस शब्द को ले लेना चाहिए जो आम इस्तेमाल के शब्दों और लोगों की समझ के साथ यथासंभव मेल साध सके।'' यद्यपि हिन्दी शब्द निर्माण में संस्कृत धातुओं के महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता, परन्तु भाषाई संक्रमण काल तथा सामासिक संस्कृति के विचार को ध्यान में रखकर आम-फहम शब्दों का प्रयोग न केवल जरूरी है बल्कि यही समय की माँग भी है। हाँ यह बात तो ध्यान में रखनी ही होगी कि हर भाषा की एक प्रकृति और संस्कृति होती है। इसी सीमा के अंदर रहकर शब्द संरचना उचित होगी।

हिन्दी की अटपटी संरचना और शैली भी अनुवाद की ही देन है। इस तरह की कृत्रिमता का कारण ''उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों को पूरी तरह हटाने, कृत्रिम शब्दावली का निर्माण तथा ऐसे हिन्दी अनुवाद है जो कि अच्छी हिन्दी जानने वालों को भी अस्वाभाविक महसूस होते हैं। बहुधा ऐसा लगता है कि हिन्दी को अंग्रेजी वाक्य संरचना के अनुसार रखा गया है।'' (डॉ. ओंकार नाथ कौल : हिन्दी और उर्दू के सामान्य आधार) स्वतंत्रता के बाद जिस मशीनी ढंग से सरकारी कागजातों, नियमावलियों, फार्मों आदि का अनुवाद किया गया है, उसकी वजह से अनुवाद अत्यंत क्लिष्ट और अस्वाभाविक हो गये हैं। उदाहरण के लिए,

1. ''यह अधिनियम राजभाषा अधिनियम 1963 कहा जा सकेगा।
   (इस अधिनियम को राजभाषा अधिनियम, 1963 कहा जाए)
2. निदेशक ने सहर्ष निर्णय लिया है।
   (निदेशक महोदय ने निर्णय लिया है)
3. ग्यारहवें घंटे में।
   (एन वक्त पर)
4. मंजूरी पत्र का संख्यांक प्राधिकार पत्र और तारीख।
   (मंजूरी के प्राधिकार पत्र की संख्या और तारीख)

इस तरह की अस्वाभाविकता से बचने के लिए अनुवाद में मानक, स्वाभाविक तथा आमफहम शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए जो कि हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू और अन्य भारतीय

भाषाओं से हो सकते हैं। दूसरी सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अनुवाद पर निर्भरता समाप्त करके भविष्य में बनने वाले सभी नियमों, कागजातों आदि के मसौदे मूल रूप में हिन्दी में तैयार किए जाएँ ताकि शब्दावली और वाक्य संरचना के स्तर पर कृत्रिमता से बचा जा सके। इस समय हम इस स्थिति में है जबकि इस कार्य को मूल रूप से शुरू किया जा सकता है।

यह देखा गया है कि जहाँ कार्यालय/विभाग के अध्यक्ष द्वारा राजभाषा के प्रयोग को प्रोत्साहन दिया गया है, वहाँ इसके प्रचार-प्रसार में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इस प्रकार उच्चाधिकारियों के विवेक को जागृत करने के अलावा इस तरह के प्रावधान जरूरी है कि जो टिपपण मूल रूप से हिन्दी में आरम्भ हो उस पर अगली टिप्पणियाँ हिन्दी में लिखी जाएँ। राजभाषा कार्यान्वयन के अगले चरण में उच्चाधिकारियों द्वारा हिन्दी के प्रयोग पर ध्यान दिए जाने की जरूरत है।

सबसे महत्त्वपूर्ण यंत्र कम्प्यूटर आज संप्रेषण और संपर्क के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। हिन्दी के क्षेत्र में मल्टीवर्ड, शब्दरल, अक्षर, प्रकाशक, वर्ड जैसे साफ्टवेयर कम्प्यूटर में कार्य करने के लिए उपलब्ध है लेकिन इन पर डाटा-एन्ट्री इत्यादि की सुविधा उपलब्ध नहीं है। राजभाषा विभाग के तकनीकी सेल तथा राष्ट्रीय सूचना विज्ञान संस्थान के सहयोग से जिस्टकार्ड द्वारा हिन्दी में डाटा-एन्ट्री की तकनीक भी विकसित की गई है।

हिन्दी के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए द्विभाषी यंत्रों की खरीद पर जहाँ सरकार पर आर्थिक भार पड़ता है वही इनका सदुपयोग भी नहीं हो पा रहा है। यदि एक कार्यालय में द्विभाषी टेलेक्स लगा दिया जाता है तो उसके रिसीविंग स्थान पर द्विभाषी टेलेक्स न होने से सारी व्यवस्था बेकार हो जाती है और धन का भी दुरूपयोग होता है। सभी कार्यालयों में अभी तक न तो द्विभाषी टेलेक्सों की व्यवस्था हो पायी है और न ही द्विभाषी कम्प्यूटरों की। इन्हें आम कार्यालयों तक पहुँचते-पहुँचते काफी समय लगने की संभावना है। आवश्यकता इस बात की है कि जहाँ तक हो सके अब अंग्रेजी के यंत्र खरीदे ही न जाएँ और यदि अंग्रेजी के यंत्र खरीदने जरूरी हो तो द्विभाषी ही खरीदें जाएँ। सरकार द्वारा यद्यपि इस संबंध में आदेश जारी किए गए हैं, परंतु इनका अनुपालन कतिपय स्थानों पर ही हो पा रहा है।

इसी तरह शब्दावली, संदर्भ साहित्य और शब्दकोशों की अनुपलब्धता भी समस्या पैदा करती है। कार्यालयों में कार्यरत प्रत्येक अधिकारी/कर्मचारी को अभी भी शब्दावली, संदर्भ साहित्य और शब्दकोश उपलब्ध नहीं करवाए जा सके हैं। इनकी कमी के कारण अंग्रेजी में कार्य करने वाले कर्मचारियों को हिन्दी में कार्य शुरू करने में असुविधा होती है, तथा उनके पास इनकी कमी का बहाना भी रहता है। सरकार द्वारा यद्यपि इस ओर काफी प्रयास किए जा रहे हैं लेकिन जब तक प्रत्येक कर्मचारी को संदर्भ साहित्य उपलब्ध नहीं करवा दिया जाता, तब तक अपेक्षित परिणाम सामने नहीं आ पाएंगे।

इस प्रकार प्रक्रिया और संसाधन से संबंधित समस्याएँ प्रशासन से जुड़ी हुई हैं। यह सही है कि हिन्दी के कार्यान्वयन के लिए दंड का कोई प्रत्यक्ष प्रावधान अभी तक नहीं है, लेकिन जैसा कि पहले कहा जा चुका है उच्चाधिकारियों की प्रेरणा तथा विवेक से इस क्षेत्र में वांछित प्रगति हो सकती है। इसके लिए आर्थिक प्रोत्साहन के साथ-साथ थोड़ा कड़ाई की भी जरूरत है।

३. मानसिकता की समस्या

राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हुए चार दशक से ऊपर बीतने के बावजूद हिन्दी को संपूर्ण देशवासियों द्वारा मनसा-वाचा-कर्मणा नहीं अपनाया जा सका है। हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं कि इस के लिए केवल सरकार के पास संसाधनों की कमी अथवा प्रशासनिक व्यवस्था को जिम्मेदार ठहराया जाता है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भाषा भावनागत वस्तु है। मानव प्रकृति से स्वभाषा-प्रेमी होता है और वह उसी तरह अपनी मातृ-भाषा पर आघात सहन नहीं कर सकता जैसे कि अपनी माता पर। हिन्दी की प्रगति में यह भावना भी महत्त्वपूर्ण बाधा रही है। हिन्दी को संविधान सभा द्वारा सर्वसम्मति से राजभाषा का दर्जा दिया गया था। परंतु कालांतर से इसका विरोध तीन वर्गों द्वारा किया जा रहा हैः

1. क्षेत्रीय भाषाओं के समर्थक
2. अंग्रेजी के समर्थक, और
3. हिन्दुस्तानी के समर्थक।

विरोध की प्रखरता के क्रम पर मतभेद हो सकता है परंतु तीसरे वर्ग के विरोध का आधार तो मात्र हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी नाम का चुनाव रहा है। हिन्दी का विरोध मूलतः अंग्रेजी के प्रबल पक्षधरों द्वारा किया गया। इसमें भी दो वर्ग थे एंग्लो-इंडियन वर्ग तथा कथित उच्च शिक्षित वर्ग। स्वतंत्रता प्राप्ति के आरंभिक काल में सरकारी नौकरियों पर इसी वर्ग का वर्चस्व था। आज भी उपरोक्त दोनों वर्गों के हिन्दी विरोध में कमी नहीं आई है। इसके अलावा क्षेत्रीय भाषा-भाषी लोगों की भावनाएँ भी हिन्दी को अपनाने में असमर्थ हैं। यह उचित होगा कि सरकार द्वारा एक ऐसी कार्य योजना बनाई जाए जिससे कि अन्य भाषा-भाषी लोगों को मुख्यधारा में लाया जा सके और वे हिन्दी के कटे-कटे महसूस न करें। इसके लिए उन्हें राजभाषा कार्यान्वयन के क्षेत्र में नौकरियों इत्यादि में प्रोत्साहन देना, हिन्दी में मूल लेखन के लिए पुरस्कार प्रदान करना तथा इसी तरह की अन्य गतिविधियों का आयोजन श्रेयस्कर रहेगा। इससे रोटी से जुड़े भाषा के प्रश्न को हल करने में भी सहायता मिलेगी तथा उनके मन से यह भी निकाला जा सकेगा कि हिन्दी से उनकी मातृभाषा की प्रतिस्पर्धा है। जहाँ तक अंग्रेजी मानसिकता का प्रश्न है, इस संबंध में समाज में काफी जागरूकता आ चुकी है और अंग्रेजी का आकर्षण धीरे-धीरे कम होने लगा है। आवश्यकता है इस व्यवस्था पर अंतिम चोट करने की। यह प्रसन्नता

की बात है कि प्रशासनिक सेवाओं में हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से आने वाले तथा अस्मिता की पहचान के लिए व्याकुल अधिकारियों/कर्मचारियों के सहयोग से अंग्रेजी का यह कवच हम भेदने में सफल रहे हैं इस विषय में राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' के विचार अत्यंत प्रासंगिक हैं "जो लोग देश में हिन्दी चलाने के विरोधी हैं उन्हीं के कारण तमिलनाडु में तमिल, बंगाल में बंगला, आंध्र में तेलुगु और केवल में मलयालम का प्रचालन रुका हुआ है। यह एक ऐसा जटिल षड़यंत्र है जिसे जनता को बारीकी से समझना चाहिए। यह षड़यंत्र यदि सफल हो गया तो भारत का इतिहास विफलता-बोध से ग्रस्त हो जाएगा और हम जिन मंसूबों के साथ किस्मत को बदलने और सभ्यता को नई दिशा की ओर मोड़ने की तैयारी कर रहे हैं वे धूल में मिल जाएंगे।" आवश्यकता इस बात की है कि सभी भारतीय भाषाओं के मध्य हिन्दी समन्वय की भाषा के रूप में विकसित हो।

अतः प्रशासन में हिन्दी के प्रयोग को बढ़ाने के लिए जहाँ एक ओर संसाधनों की उपलब्धता तथा प्रशासनिक इच्छाशक्ति आवश्यक है वही राष्ट्रीय भावना को जागृत करके तथा विभिन्न भाषा-भाषियों की भावना का सम्मान करते हुए समन्वित प्रयास किए जाने जरूरी है। यह बात समझ लेनी जरूरी है कि स्वभाषा को उसका स्थान देने से किसी भी राष्ट्र को क्षति नहीं पहुँची है। परन्तु मंजिल तभी मिलती है जब इरादा मजबूत हो। अतः सबसे पहले जरूरी है राजभाषा को वास्तव में लागू करने के लिए प्रबल इच्छा शक्ति।

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी-248179

संदर्भ –

1. भारत का संविधान, भाग-17
2. राजभाषा हिन्दी : डॉ. भोलानाथ तिवारी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
3. हिन्दी समस्या, समाधानः सिरोही और अग्रवाल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
4. संपर्क भाषा हिन्दीः भोलानाथ तिवारी, कमल सिंह, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
5. राजभाषा भारती, राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, अंक सितम्बर, वर्ष 1987
6. राजभाषा भारती, भारत सरकार, अंक 66, जुलाई-सितम्बर 1994
7. Common basic of Hindi and Urdu : Dr. O.N. Koul, 1992.
8. राजभाषा हिन्दी-कार्यान्वयन की समस्याएँ, आर.पी.सिंह. 1990
9. राजभाषा हिन्दीः डॉ. मलिक मोहम्मद, राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली।

हिन्दी पत्रकारिता की भाषा

- राजेन्द्र प्रसाद सिंह

भारत में पत्रकारिता को पहले मिशन के रूप में अपनाया गया था इसलिए पत्रों का मूल्य सिर्फ कागज के बने नोटों से नहीं आँका जाता था बल्कि इसके मूल्यांकन का एक दूसरा आयाम भी था जो राष्ट्रहित एवं नागरिकों में दायित्वबोध से जुड़ा हुआ था। आज की पत्रकारिता ने पूरी तरह से व्यावसायिकता का रूप ले लिया है। ऐसी हालत में जरूरी हो गया है—आकर्षक शीर्षक देना। जल्दी से जल्दी समाचार देने की होड़ और पाठक के हाथ में सबसे पहले पत्र पहुँचा देने की प्रतिस्पर्धा। इस जल्दबाजी का प्रभाव अखबारों की भाषा में स्पष्ट दिखाई पड़ेगा क्योंकि उन्हें समय के साथ-साथ चलना है। इसलिए पत्रकारिता की भाषा इत्मीनान की भाषा नहीं है बल्कि शीघ्रता की भाषा है।

इस पत्र-उद्योग के केन्द्र में उपभोक्ता है। उपभोक्ता भी भौतिकवादी संस्कृति की चपेट में है। वह भी भाग-दौड़ की जिन्दगी में पूरी तरह से शामिल है। उसे भी कहीं जाने की जल्दबाजी है। ऐसी हालत में उसे कभी-कभी समाचार-आलेखों का केवल शीर्षक देखकर संतोष करना पड़ता है। इसलिए शीर्षक को पूरे समाचार-आलेख का केन्द्र-बिन्दु होना चाहिए जिसमें उसका मुख्य भाव प्रतिबिम्बित हो जाय क्योंकि इसी के माध्यम से पाठक खबरों के भीतर झाँकता है। लेकिन कभी-कभी शीर्षक अस्पष्ट लगे होते हैं जिसकी वजह से मुख्य भाव नहीं खुल पाता है। कभी ऐसा भी होता है कि किसी मुख्य समाचार का कोई गौण हिस्सा शीर्षक की जगह पर आकर उसके मूल स्वर आच्छादित कर देता है। ऐसे कई उदाहरण अखबारों में मिल जाएँगे।

तेज रफ्तार से भागती दुनिया और उसे छू लेने को बेचैन जिन्दगी की सरपट भाग-दौड़ में चुटीले, रसीले, भीषण तथा अप्रत्याशित समाचारों को बॉक्स के अन्दर प्रकाशित किया जाता है ताकि पाठकों का ध्यान उस पर बरबस चला जाय। वह भी भाषा का एक रूप है जो सिर्फ चार सीधी लकीरों से भाव खोलता है। लिपि भी तो सीधी-तिरछी लकीरों का जोड़-घटाव है। भारतेन्दुयुगीन पत्रकारिता में काला किनारा देकर शोक प्रकाश करने की प्रणाली ऐसी ही संकेत-भाषा थी जो अनकही संवेदनाओं को चुपचाप बयान करती थी। अज्ञेय की भाषा में मौन चिह्न (...) या अकेला शब्द कई-कई भावों को एकसाथ खोलता है जहाँ भाषा कुछ कहने में लचर हो जाती है।

हिन्दी एक विस्तृत भूखण्ड की भाषा है। इसका प्रयोग विभिन्न कार्यों में होता है। अतएव यह स्वाभाविक है कि उसके रूप अथवा उसकी शैलियाँ उसके पूरे क्षेत्र में सभी स्तरों पर एक प्रकार की नहीं होंगी। सरकारी कामों में प्रयुक्त हिन्दी एक प्रकार की है, तो बोलचाल की हिन्दी दूसरे प्रकार की; विज्ञापन में प्रयुक्त हिन्दी तीसरे प्रकार की है तो व्यापार में प्रयुक्त हिन्दी चौथे प्रकार की; साहित्य में प्रयुक्त हिन्दी पाँचवें प्रकार की है तो पत्रकारिता में प्रयुक्त हिन्दी छठे प्रकार की। अतएव भाषा की एकरूपता या उसके मानकीकरण की बात पर ज्यादा बल देना सैद्धांतिक अधिक है, व्यावहारिक कम।

यदि दैनिक अखबारों के अर्थ व्यापारिक पृष्ठ पर ध्यान केन्द्रित करें तो तुरन्त पता चलेगा कि इसका भाषायी स्वरूप अलग है। शेयरों में सुधार, चीनी में तेजड़ियों की पकड़ ढीली, चाँदी लुढ़की, सोना उछला, चावल में तेजी, गेहूँ टूटा उड़द कमजोर, राजमां में गिरावट, स्टैण्डर्ड सोना खामोशी के साथ 514 पर खुला- ये मंडियों और शेयर बाजारों में प्रयुक्त होने वाली हिन्दी के नमूने हैं जिसे मीडिया ने सीधे-सीधे अपना लिया है। मीडियावालों का जुड़ाव कई क्षेत्रों से होता है। प्रत्येक क्षेत्र की अपनी पारिभाषिक एवं तकनीकी शब्दावली होती है। उसका सरोकार खेल-कूद से भी है विज्ञान और टेक्नोलॉजी से भी। उसके रिश्ते सिनेमाई जगत् से भी बनते हैं, घर-संसार से भी। समाचार-पत्रों में राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों की केवल सपाट रिर्पोटिंग ही नहीं होती है बल्कि उसमें कई महत्त्वपूर्ण साहित्यिक आलेख, कविता और कहानी भी प्रकाशित होते हैं। कहना न होगा कि इतने सारे क्षेत्रों का अभिव्यक्तिक मुकाबला सीमित शब्द-भण्डार के जंग लगे हथियारों से संभव नहीं है। इन अलग-अलग क्षेत्रों से जूझने के लिए उसे अत्याधुनिक औजार और नयी-नयी रणनीति की जरूरत है क्योंकि जिस औजार और रणनीति से कुरुक्षेत्र की लड़ाई लड़ी गयी थी, उसी से खाड़ी युद्ध नहीं लड़ा गया था। इसलिए बदलते समाज, साहित्य और संस्कृति की चुनौतियों का सामना सिर्फ पारंपरिक भाषा के सहारे सम्भव नहीं होगा वरना पोरस के हाथी की तरह अपनी ही फौज को बर्बाद कर देगा। जमाने और जरूरत के मुताबिक भाषा बदलती है। इसे कोई नहीं रोक सकता है—न व्याकरण, न शब्दकोश बल्कि इन दोनों को इसका पिछलग्गू होना होगा जैसा कि वह पहले भी था।

साहित्य की प्रत्येक विधा से पत्रकारिता की भाषा अद्यतन होती है। शब्द-भण्डार की दृष्टि से यह विशाल सम्भावनाओं का क्षेत्र है जहाँ दुनिया के कोने-कोने से नये-नये शब्दों का जमाव होता है। किसी भी दरिद्र भाषा के शब्दकोश को समृद्ध करने का यह एक महत्त्वपूर्ण जरिया है। ध्यान रहे कि किसी भी विकासशील समाज की भाषा के शब्दकोश कालक्रम के अनुसार उसके शब्दों की संख्या बढ़ती जाती है। शब्दकोशों की समृद्धि और सामाजिक विकास के बीच का रिश्ता समानुपातिक होता है, इसलिए अविकसित समाज का शब्दकोश दरिद्र होता है। मैथ्यू व स्कीट द्वारा सन् 1400 ई. में संपादित अंग्रेजी शब्दकोश में शब्दों की कुल संख्या सिर्फ

दस हजार थी वहीं सैम्युएल जॉनसन द्वारा सन् 1790 ई. में संपादित अंग्रेजी शब्दकोश में शब्दों की संख्या बढ़कर इकतालिस हजार हो गयी। यह संख्या आगे भी बढ़ती गयी। कोलिन्स ग्राफिक शब्दकोश में तिरसठ हजार शब्द थे जो सन् 1900 ई. में प्रकाशित हुआ था।[1] उसके कोई तीन दशक बाद प्रकाशित बेब्स्टर कोश के 1934 के संस्करण में साढ़े पाँच लाख से भी कुछ अधिक शब्द शामिल हो गये। इसलिए अंग्रेजी भाषा शब्द-समूह के क्षेत्र में सबसे धनी कही जाती है। लेकिन हिन्दी शब्दकोश अंग्रेजी की तरह प्रगतिशील नहीं है क्योंकि यथास्थितिवादियों द्वारा इसकी पवित्रता एवं शुद्धता को बचाये रखने का भरपूर प्रयास किया जाता रहा है। विदेशी नस्ल के शब्दों को लेने में इन्हें परहेज है। लोकबोलियों के शब्दों से इन्हें घृणा है। इनका मानना है कि शब्द-भण्डार के ये दोनों स्रोत अछूत हैं । इनको छूने से भाषा का धर्म भ्रष्ट हो जाएगा। फिर देवी-देवताओं के कोश के सहारे आधुनिक युग की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति का मुकाबला कैसे सम्भव होगा?

मैथ्यू व स्कीट द्वारा संपादित अंग्रेजी शब्दकोश के कोई सवा चार सौ वर्षों के बाद पादरी आदम ने सन् 1829 ई. में आधुनिक हिन्दी का पहला शब्दकोश हिन्दवी भाषा का कोश संपादित किया था जिसमें कुल शब्दों की संख्या बीस हजार थी। आदम साहब पहले व्यक्ति थे जिन्होंने लोक से बोलचाल के शब्द संगृहीत किये थे जिसकी परम्परा मजबूती के साथ आगे नहीं बढ़ पायी। इसलिए सन् 1894 ई. में श्रीधर त्रिपाठी द्वारा संपादित श्रीधर भाषा कोश में हिन्दी शब्दों की कुल संख्या पच्चीस हजार तक ही रह गयी। वृहद् हिन्दी कोश के तीसरे संस्करण में एक लाख अड़तीस हजार शब्द हैं। हिन्दी शब्द सागर (1965-75) में हिन्दी शब्दों की संख्या कोई दो लाख है जबकि अंग्रेजी भाषा में इस समय लगभग छः लाख शब्द होंगे।[2] क्या हम पारम्परिक एवं दकियानूसी विचारधारा के सहारे इन दोनों भाषाओं के बीच तेजी से बढ़ते इस फासले को पाट पाएँगे? पत्रकारिता की भाषा ने इस फासले को पाटने में सेतु का काम किया है।

भाषावैज्ञानिकों ने विकसित भाषा के कई तत्त्व स्वीकार किये हैं जिसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है-भाषा की आधुनिकता। भाषा की आधुनिकता से तात्पर्य है : शब्दावली में वृद्धि तथा नई शैली तथा अभिव्यक्तियों का विकास। पत्रकारिता की भाषा में इस आधुनिकता की घुसपैठ साफ-साफ देखी जा सकती है। इसके शब्द-चयन और व्याकरणिक ढाँचे को सांख्यिकीय भाषाविज्ञान के माध्यम से ठीक-ठीक जाना जा सकता है। सोवियत संघ के ताशकंद विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री कासानोवस्की ने अखबारों में प्रयुक्त हिन्दी पर इस प्रकार का कार्य किया है। उनकी गणना के अनुसार हिन्दी समाचार-पत्रों में 195 आधार-शब्द ऐसे हैं जो समाचार-पत्रों की सामान्य सामग्री में 60% तक मिलते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण है—

व्याकरणिक कोटि	शब्द	प्रतिशत
समुच्चयबोधक	5	6.0 प्रतिशत

परसर्ग	20	21.0 प्रतिशत
सहायक क्रिया 'है', 'था'	2	1.3 प्रतिशत
निपात	8	3.0 प्रतिशत
सर्वनाम	24	8.0 प्रतिशत
संख्या	3	1.0 प्रतिशत
क्रिया	39	12.5 प्रतिशत
क्रियाविशेषण	15	2.3 प्रतिशत
विशेषण	10	0.5 प्रतिशत
संज्ञा	69	4.5 प्रतिशत
	195	60.1 प्रतिशत

साभार, डॉ. भोलानाथ तिवारी : भाषाविज्ञान

अगर अखबारों के केवल समाचार शीर्षकों पर ध्यान केन्द्रित करें तो स्पष्ट होगा कि इनमें सहायक क्रियाओं, विशेष तौर से 'है' या 'था', का प्रयोग कम होता है जबकि अन्य सहायक क्रियाओं का प्रचलन सामान्य है। अखबारी शीर्षकों के कुछ नमूने यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं :

लुप्त होती जा रही (है) लोकगीतों की परम्परा
गाँवों पर भी पड़ रही (है) आधुनिकता की छाप
पोलीथीन का इस्तेमाल जारी (है)

मुख्य क्रियाएँ भी अखबारी समाचार के शीर्षकों से हटायी जा रही हैं जबकि क्रियाओं के ही नये प्रकार के प्रयोग पत्रकारिता की भाषा में मिलते हैं :

नरेन्द्र मोदी का इस्तीफा, गुजरात विधानसभा भंग
(हिन्दुस्तान, 20 जुलाई, 02)

बिक्रमगंज में बंद असरदार, भभुआ में बेअसर
(हिन्दुस्तान, 10 अगस्त, 02)

माइकल फरेरा बिंद्रा को राष्ट्रीय खेल पुरस्कार
(हिन्दुस्तान, 30 अगस्त, 02)

ज्वाइन करो या सस्पेंड हो जाओ
(हिन्दुस्तान, 8 अगस्त, 02)

ओवरटेक करके जीप में बैठाया था अपहर्ताओं ने
(हिन्दुस्तान, 28 अगस्त, 02)

सीरियस रोगियों को टेकअप नहीं करते चिकित्सक
(हिन्दुस्तान, 30 अगस्त, 02)

ऐसा पाया गया है कि किसी भी भाषा के व्याकरणिक रूपों में संज्ञाओं का प्रयोग सर्वाधिक होता है। पत्रकारिता की भाषा भी इसका अपवाद नहीं है। इसीलिए विदेशी शब्दों की सर्वाधिक सेंधमारी और घुसपैठ भी भाषा के इसी व्याकरणिक खापे में होती है। यातायात के साधनों में साइकिल, मोटर, रेल से लेकर हवाई जहाज तक का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। दूरसंचार और सूचना-संप्रेषण के क्षेत्र में नये-नये आविष्कार होते जा रहे हैं। कम्प्यूटर, टेलीफोन और इलेक्ट्रॉनिक प्रणालियों का संयोजन तथा ऑप्टिकल फाइबर प्रणाली के विकास से शब्दों, ध्वनियों और चित्रों को डिजिटल रूप में संगृहीत और सम्प्रेषित करना सम्भव हो गया है। साइबर-स्पेस की परिकल्पना से समस्त विश्व में फैले करोड़ों कम्प्यूटरों का एक नेटवर्क तैयार हो गया है जिसके माध्यम से आपस में सूचनाओं, ध्वनियों, तस्वीरों, रेखाचित्रों, आँकड़ों का आदान प्रदान संभव हो गया है। इंटरनेट की तकनीक का व्यापक उपयोग इलेक्ट्रॉनिक मेल (E-mail) के रूप में हो रहा है। रेडियो पेजिंग प्रणाली के माध्यम से उपभोक्ता कहीं भी संदेश प्राप्त कर सकता है। दिन-प्रतिदिन फैक्टरियाँ तथा मिलें खुलती जा रही हैं। उदारवाद और भूमंडलीकरण की उत्तर-आधुनिक अवधारणाओं से भाषायी क्षेत्र भी अछूता नहीं है। नित नये-नये शब्द सामान्य होते जा रहे हैं। प्रकृति सिद्ध नियमानुसार उनका प्रवेश हुआ है इसलिए उन्हें रोकने की किसी में शक्ति नहीं है।

लेकिन विगत कुछ समय से भारत में मीडिया विस्फोट के बाद खास तौर पर इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों ने जिस हिंग्लिश (अंग्रेजी- हिन्दी की खिचड़ी भाषा) का प्रयोग शुरू किया है वह निश्चय ही हिन्दी प्रेमियों के लिए चिन्ता का विषय बना हुआ है। इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों में भी रूपर्ट मर्डोक और पश्चिम के अनेक चैनलों ने हिन्दी के लिए जितना बड़ा खतरा पैदा किया है उतना हिन्दी पत्रकारिता अथवा प्रिंट मीडिया ने नहीं किया है। इसलिए हिन्दी पत्रकारों को भाषायी अराजकता का जनक मानने का कोई औचित्य नहीं है। जिस अंग्रेजी भाषा के बढ़ते प्रभाव से हिन्दी भाषी चिन्तित हैं वह अंग्रेजी स्वयं कई भाषाओं का स्तवक है। इस भाषा ने कई भाषाओं के शब्दों को घुला-मिलाकर आत्मसात् कर लिया है। परिणामतः अंग्रेजी में दूसरी भाषाओं से आये शब्दों को भी हम अंग्रेजी का मान बैठते हैं। 'चॉकलेट' मेक्सिकन भाषा का शब्द है, 'रिक्शा' जापानी भाषा का शब्द है, 'बीफ' फ्रांसीसी भाषा का शब्द है और 'टोबैको' पुर्तगाली भाषा का शब्द है। ऐसे कई शब्दों की एक लम्बी सूची बन सकती है।

शुद्धतावादियों की ओर से कभी-कभी हास्यास्पद तर्क दिये जाते हैं। चन्द्रबिन्दु का प्रयोग खत्म होता जा रहा है। इसके बदले में अनुस्वार का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। इससे कहीं-कहीं भ्रम की स्थिति भी पैदा होती है; जैसे-हंस पक्षी तथा हँसना क्रिया का रूप हँस। इसी पारम्परिक उदाहरण को बारम्बार चन्द्रबिन्दु के पक्ष में उद्धृत किया जाता रहा है जबकि भाषा में एक शब्द के कई अर्थ होते हैं। वे एक मूल के भी हो सकते हैं, कई मूलों के भी। प्रयोग

उसके अर्थ-अलगाव को स्पष्ट कर देगा। फिर 'हंस' के दो अर्थ हो जाएँ तो इसमें क्या हर्ज है? ऐसे भी इस प्रकार के युग्मों की खोज करना बेहद कठिन है। फिर भी आचार्य-कुल के लोग इसे छोड़ना नहीं चाहते हैं। सवाल है कि एक नहीं, दो-चार शब्दों के लिए भी लिपि के इस अनावश्यक संकेत को इतिहास में ढोये जाने की क्या जरूरत है? ऐसे शब्दों को ढोने से तो बेहतर है उसके किसी दूसरे पर्याय को अपना लेना। इस प्रकार के दो-चार शब्दों का लोप हो जाने से भाषा का कुछ भी बनने-बिगड़ने वाला नहीं है। भाषाविज्ञान का यह सिद्धान्त है कि सामान्यतः एक हजार वर्षों में कोई भी भाषा अपने मूल शब्दों के केवल 81% शब्द रख पाती है। शेष 19% शब्द लुप्त हो जाते हैं। विष्णु के 1676 पर्यायों में से अब कितने रह गये हैं? विष्णु की उपयोगिता खत्म हो चुकी है, इसलिए उसके पर्याय हिन्दी शब्दकोश से बाहर होते जा रहे हैं। युग के हिसाब से नये-नये शब्द गढ़े जा रहे हैं या दूसरी भाषाओं से उधार लिये जा रहे हैं। इसमें क्या नुकसान है? शुद्धता, शास्त्रीयता और कुलीनता के नाम पर हिन्दी भाषा के साथ कब तक बलात्कार होता रहेगा, इसे रोकना होगा हिन्दी के रक्त-वर्ण की शुद्धता की आवाज आभिजात्य वर्ग की ओर से उठायी गयी है जबकि हिन्दी भद्रलोक की भाषा कभी नहीं रही है। यह मेहनतकशों और कामगारों, किसानों और मजदूरों की भाषा रही है। इसलिए इनके शब्दों को हम ग्राम्य मानकर नजरअंदाज नहीं कर सकते हैं। पत्रकारिता की भाषा ने इन बद्धमूल परम्पराओं को तोड़ा है।

केवल शब्दावली के परिवर्तन से भाषा की भाव-प्रकृति नहीं बदलती है। हिन्दी का व्याकरणिक ढाँचा लगभग स्थिर है। कर्त्ता पहले रहे या बाद में-इससे भाषा का संस्कार नहीं बिगड़ेगा। यह सिर्फ शैली-परिवर्तन है जो अभिव्यक्तिक जरूरत के मुताबिक बदलती रहती है। हिन्दी के सम्बन्धतत्त्व अंग्रेजी भाषा से बहुत कम प्रभावित हुए हैं। अगर कहीं ऐसा है तो वह किसी एक शब्द या पद के रूप को ही प्रभावित करता है। उससे भाषा के पूरे संस्थान से कोई सम्बन्ध नहीं है। आधुनिक युग में अंग्रेजी के दाखिल होने के बावजूद हिन्दी का भीतरी मिजाज नहीं बदला है बल्कि उसका सिर्फ बाह्य व्यक्तित्व प्रभावित हुआ है।

अंग्रेजी से हिन्दी में आये शब्दों के कारण स्त्रीलिंग शब्द का पुंलिंग रूप में पुंलिंग शब्द का स्त्रीलिंग रूप में प्रयोग आम बात हो गई है। अंग्रेजी भाषा में निर्जीव वस्तुओं का लिंग-निर्णय पूँछ उठाकर नहीं किया जाता है। वहाँ न्यूटर जेन्डर का कॉन्सेप्ट है। इस नपुंसक लिंग की सूची से हिन्दी में आये शब्दों का लिंग-निर्णय कैसे किया जाएगा? इसका कोई ठोस आधार नहीं है। इसलिए मीडिया की भाषा (प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक) में लिंग-भेद की एक अराजक स्थिति पैदा हो गयी है क्योंकि विदेशी शब्दों का पहला मुकाबला इन मीडियावालों से ही होता है। संस्कृत शब्दों का लिंग-निर्णय करने में परम्परा से सहयोग मिल जाता है, परन्तु अंग्रेजी शब्दों का लिंग-निर्णय तो पूरी तरह से मनगढंत है। होना यह चाहिए कि जिन सजीव प्राणियों का लिंग-भेद स्पष्ट है, केवल उन्हीं शब्दों का लिंग-निर्णय हो, बाकी शब्दों का लिंग-निर्णय अवैज्ञानिक है। आज के

वैज्ञानिक युग में भी इस तरह की अवैज्ञानिक, अतार्किक एवं पारम्परिक प्रणाली को हमारी भाषा ढो रही है, यह आश्चर्य का विषय है क्योंकि हिन्दी में लिंग का प्रभाव अंग्रेजी की तरह केवल सर्वनामों पर ही नहीं होता बल्कि इसका असर विशेषणों और क्रियाओं पर भी पड़ता है। इस पांडित्य-प्रदर्शन से भाषा की मुक्ति कब होगी?

यह तर्क सही है कि हिन्दी पर बाहरी शब्दों का जबरदस्ती आरोपण रोका जाना चाहिए किन्तु जहाँ भी क्षेत्रीय या विदेशी शब्द सटीक लगे वहाँ उसे अपनाया जाना चाहिए। ऐसा नहीं है कि पत्रकारिता की भाषा ने सर्वत्र सटीक शब्दों को ही अपनाया है। आदर्श हिन्दी शब्दकोश में 'आतंकवादी' शब्द नहीं मिलेगा क्योंकि यह शब्द आतंकवाद के अभ्युदय के साथ जुड़ा हुआ है। एक समय था जब यह शब्द अखबारों में छाया रहता था, आज इसके बदले में आतंकी शब्द प्रचलित हो गया है। अब आतंकी और आतंकवादी में फर्क किये जाने की जरूरत है। आतंकवाद (टेररिज्म) लोगों को डरा-धमकाकर अपना उद्देश्य सिद्ध करने का सिद्धान्त है और इस सिद्धान्त को माननेवाला आतंकवादी (टेररिस्ट) है। आतंकी उस सिद्धान्त को क्रियान्वित करता है। इस अर्थ में आतंककारी का पर्याय आतंकी है। अभी यह शब्द संक्रमण-काल से गुजर रहा है इसलिए आतंकी और आतंकवादी का वैकल्पिक प्रयोग पत्रकारिता की भाषा में जारी है। आतंकवादी शब्द को हिन्दी शब्दकोशों ने स्वीकार कर लिया है जबकि आतंकी शब्द आज भी हिन्दी शब्दकोशों से गायब है। ऐसे ही आज आरोपी शब्द अखबारों में गलत अर्थ में धड़ल्ले से लिखा जा रहा है। आरोपी फरार– इसका क्या माने हुआ? यहाँ आरोपी का प्रयोग अभियुक्त के अर्थ में हुआ है जबकि आरोप लगानेवाला आरोपी होता है, जैसे क्रोध करनेवाला क्रोधी। जिस पर आरोप लगा हो उसके लिए शब्द है–आरोपित। अभी हिन्दी शब्दकोशों में आरोपी की स्वीकृति बाकी है जबकि आरोपक पहले से स्वीकृत है।

ऐसा नहीं है कि पत्रकारिता की भाषा शत-प्रतिशत शुद्ध और व्याकरण-सम्मत होती है। हिन्दी अखबारों में भाषा सम्बन्धी ढेरों अशुद्धियाँ मिल जाएँगी। इसके दो कारण हो सकते हैं–प्रूफ रीडिंग अथवा अज्ञानता। मगर जान-बूझकर लायी गयी भाषायी नवीनता को व्याकरणिक अशुद्धि नहीं कहा जा सकता है। पत्रकारिता की भाषा में नवीनता के लिए भी वाक्यों की रचना-पद्धति में बदलाव लाया गया है। विशेषण पदबंध जो संज्ञा शब्दों में पहले आते हैं अब बाद में रखे जाने लगे हैं–तीन दिन की बादशाहत : बादशाहत तीन दिन की। साधारणतः वाक्य में पहले कर्त्ता रहता है, फिर क्रिया। अखबारी शीर्षकों में कर्त्ता ने स्थान बदल दिया है–''बुश के आगे पाक की वादाखिलाफी का मुद्दा उठाएँगे वाजपेयी।'' कर्म का प्रयोग साधारणतः कर्त्ता के बाद और क्रिया के पहले होता है। अखबारी शीर्षकों में इसका भी स्थान बदला है–''अमेरिका ने दोहराया रियो का इतिहास।'' इस नवीनता के लिए केवल वाक्यों की रचना-पद्धति में ही नहीं बल्कि शब्दों और रूपों में भी परिवर्तन किये जा रहे हैं। प्रभावशाली का स्थान 'प्रभावी' ने ले

लिया है। ऐसे ही दो रूपों के स्थान पर एक रूप करने की प्रवृत्ति भी पत्रकारिता की भाषा में बढ़ी है। फिल्माया, स्वीकारा, हथियाया जैसी क्रियाओं का प्रयोग अखबारों में सामान्य हो गया है। यह सब कम-से-कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव व्यक्त करने के प्रयास में हुआ है। इसलिए कभी-कभी शब्दों के भी कुछ अंश छोड़ दिये जाते हैं। बाइक (बाइसिकिल), सिने (सिनेमा) जैसे शब्द इसके प्रमाण हैं।

अखबारी भाषा के सापेक्ष साहित्यिक पत्रकारिता की भाषा ज्यादा टकसाली होती है। हिन्दी में निकलने वाली कई साहित्यिक पत्रिकाओं ने इस भाषा की अभिव्यंजन क्षमता को विश्व में विकसित मानी जाने वाली भाषाओं के समकक्ष खड़ा किया है यद्यपि लुगदी पत्रकारिता का स्तर इन साहित्यिक पत्रिकाओं के सापेक्ष निम्न है। मनोहर कहानियाँ, नूतन कहानियाँ, सच्ची कहानियाँ, सत्यकथा जैसी लुगदी पत्रिकाएँ जो मोटे व सस्ते कागज पर मासिक या पाक्षिक छपती हैं, इसकी मिशाल हैं जबकि इनका सर्कुलेशन साहित्यिक पत्रिकाओं की तुलना में कई गुना ज्यादा है। 'मनोहर कहानियाँ' पौने चार लाख तक बिकती रही है। 'नूतन कहानियाँ' का भी सर्कुलेशन एक लाख से अधिक था। 'सरस सलिल' लगातार प्रगति कर रही है। दिल्ली प्रेस का दावा है कि वह दस लाख की प्रसार संख्या पार कर गयी है। ये लुगदी पत्रिकाएँ विज्ञापनों को सर्वाधिक आकृष्ट करती रही हैं। आज भी विज्ञापनों की भीड़ वैसी ही पत्र-पत्रिकाओं की ओर भागती है जिनका सर्कुलेशन ज्यादा है। इस प्रकार विज्ञापन पत्रकारिता का एक हिस्सा बन गया है। विज्ञापन की भाषा चौंकाने वाली होती है। बिक्री बढ़ाने की धुन में इसकी भाषा प्रायः अतिरंजनापूर्ण हो जाती है। उदाहरण के लिए किन्हीं पाचक गोलियों के विज्ञापन में इस बात पर जोर दिया जाता है कि बगैर स्वास्थ्य का ध्यान दिये ठूँस कर खाइए, चिंता की कोई बात नहीं, फलाँ पाचक की गोलियाँ है न! विज्ञापनों में भी नये-नये शब्दों का चलन हुआ है जैसे गले में 'खिचखिच', सफेदी की 'चमकार'। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि सभी विज्ञापनों की भाषा बेतुकी और भौंड़ी होती है। कुछ विज्ञापनों की भाषा और प्रस्तुतीकरण आकर्षक और स्तरीय होने के साथ-साथ दर्शकों को उनकी मूल सांस्कृतिक परम्परा और मानसिकता से जोड़ते हैं। समाज में बेटियों की परवरिश, शिक्षा एवं उन्हें स्वावलंबी बनाने की दिशा में कुछ बेहद मर्मस्पर्शी विज्ञापन देखने में आये हैं जब एक नन्हीं बच्ची भोली आवाज में माँ के हाथों में पकड़ी पुस्तक के लिए कहती है—'अरी अम्मा! ये तो उल्टी किताब है।' विज्ञापनों में प्रयुक्त की जाने वाली भाषा का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।[3]

दरअसल भाषा का विकास ही व्याकरण के विरोध में होता है। व्याकरण की शिक्षा भाषा के विकास में बाधक होती है। इसीलिए भाषा विज्ञान नये भाषायी विकासों का भी लेखा-जोखा लेता चलता है। व्याकरण उसका अनुगामी है। इसी कारण फ्रांस में प्रायः प्रति दसवें वर्ष व्याकरण में परिवर्तन कर देने की परम्परा रही है। लेकिन हमारे यहाँ तो भाषिक अशुद्धियों को छाँटने के

लिए पुराने से पुराने व्याकरणों का हवाला दिया जाता है। पत्रकारिता की भाषा का सरोकार आम जनों से है। इसको किसी वर्ग अथवा तबके से कोई लेना-देना नहीं है। इसलिए पत्रकारों को क्लिष्ट एवं कोश के धराऊँ शब्दों से बचना चाहिए क्योंकि गंगा की अहमियत स्वर्गलोक में नहीं है। स्वर्ग की गंगा वन्ध्या है, उसके पानी में जनने की कूवत नहीं है। आसमान की गंगा आम जनता के खेत-खलिहानों में आकर ही धन्य होती है, देवताओं के बीच नहीं जो न जनमते हैं और न मरते हैं। कारण कि जिन्दगी जन्मने और मरने के बीच है। ऐसे ही पत्रकारिता की भाषा पूजा-घर में प्रतिष्ठित करने की चीज नहीं है बल्कि इसे पूजा-गृह से बाहर होना होगा ताकि उसका जनाधार मजबूत हो सके।

इनकम टैक्स ऑफिस के पास
गांधीनगर, सासाराम-82115 (बिहार)

संदर्भ -

1. भगवान सिंह : आर्य-द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता; लिपि प्रकाशन, दिल्ली (प्रथम संस्करण, सन् 1973); पृ.114
2 कैलाशचन्द्र भाटिया : शब्दश्री; प्रभात प्रकाशन, दिल्ली (प्रथम संस्करण, सन् 1984); पृ. 23-24
3. सं. डॉ. सुशीला गुप्ता : प्रयोजनमूलक हिन्दी का अध्ययन; जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (प्रथम संस्करण, सन् 1993); पृ. 115-118

उत्तरआधुनिकता : विभ्रम और यथार्थ

- रवि श्रीवास्तव

इतिहास में सम्मोहन की बड़ी शक्ति होती है। वह खंड में भी पूर्ण का विश्वास पैदा कर देता है, लेकिन होता है वह अंततः खंडित बोध ही। आज का विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास ने बहुत सारे मिथकों को ध्वस्त किया है। साथ ही, उसने नये मिथकों को जन्म भी दिया है। उसमें एक मिथक है, विकास की धारणा का अन्त। दरअसल यह धारणा भी पूँजी और प्रौद्योगिकी के संयुक्त विकास के एक खास दौर में सामने आई है। प्रगति और परिवर्तन की प्रबोधनकालीन परियोजना की असफलता का उत्तरआधुनिकतावादी दर्शन जिन विकसित पूँजीवादी देशों से आया है उनकी हकीक़त का विश्लेषण करें तो पाएँगे कि वह अन्तर्राष्ट्रीय चिंतनधारा के बीच से पनपनेवाले प्रतिरोध के क्रान्तिकारी प्रवाह को रोकने के लिए है। विकसित पूँजीवादी देशों के व्याख्याकारों के लिए ऐसे सिद्धान्तों की आज बड़ी जरूरत है क्योंकि पेंटागन की ताकत सिर्फ आणविक हथियार नहीं है, उसका विचार तंत्र भी है। दुनिया भर के देशों को वैचारिक रूप से काबू में रखने के लिए उन्हें ज्ञान के सभी मोर्चे पर नए सिद्धान्तों– 'न्यू थ्योरीज' की जरूरत है। उत्तरआधुनिक विमर्श इसी प्रयास का परिणाम है। आज उसे पारिजात पुष्प की तरह बटोरा जा रहा है।

उत्तरआधुनिकतावाद कोई स्पष्ट विचार-प्रणाली नहीं है। उसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा या पहचान भी नहीं है। अधिकांश उत्तरआधुनिक विचारकों ने उसके किसी स्पष्ट अभिप्राय अथवा मंतव्य की सिद्धि में कोई रुचि भी नहीं दिखाई है। दरअसल आज का उत्तरआधुनिक समाज उत्तर औपनिवेशिक समय और समाज भी है। उसकी हकीक़त का अध्ययन उत्तरआधुनिक विचारकों ने अलग-अलग कोणों से किया है। इसलिए उत्तरआधुनिक विचारकों के यहाँ विमर्श–'डिस्कोर्स' शब्द का प्रयोग बार-बार मिलता है। लेकिन वहाँ भी पर्याप्त अन्तर है। मसलन उत्तरआधुनिकतावादी देरीदा वर्तमान दुनिया में मूलभूत संरचनात्मक परिवर्तन की सम्भावना से इनकार नहीं करते। वह उत्तरआधुनिक समाज के मोहाविष्ट माहौल में भी बहुराष्ट्रीय निगमों वाले भूमंडलीय पूँजीवाद के राजनीतिक प्रभुत्व एवं सांस्कृतिक वर्चस्व के प्रखर विरोधी हैं। वे राजनीतिक विमर्श, मीडिया विमर्श एवं बौद्धिक या पंडिताऊ अकादमिक विमर्श की अंतःसंबद्धता की खुलकर आलोचना करते हैं जो एक बड़ी ताकत के रूप में हर पल उस तंत्र की सेवा करती

है जिसके जरिए साम्राज्यवाद आक्रामक ढंग से अपना बौद्धिक वर्चस्व कायम करता है। यद्यपि उत्तरआधुनिकतावादी सत्ता-मीमांसा के आलोचकों ने उसका सम्बन्ध आज के बहुराष्ट्रीय निगमों वाले भूमंडलीय पूँजीवाद से जोड़ा है और उसे बुढ़ाते-लम्बे खिंचे पूँजीवाद का सांस्कृतिक-बौद्धिक तर्क कहा है, किन्तु देरीदा का विखंडनवाद और पाठ की वक्रता में तमाम न्यूनताओं के बावजूद पश्चिम की सर्वोपरि सत्ता और उसकी ज्ञान-मीमांसा के विरुद्ध जबर्दस्त प्रतिरोध के तत्त्व मौजूद हैं जिन्हें साम्राज्यवादविरोधी चिन्तन की दिशा में मोड़ा जा सकता है। इस मायने में देरिदाई विखंडनवाद पूँजीवादी सत्ता मीमांसा के पूर्व स्वीकृत 'अध्यादेशों' को अव्यवस्थित करने में समर्थ है।

ध्यातव्य है कि एजाज़ अहमद ने विखंडन की न्यूनताओं और विरोधाभासों को दिखाते हुए भी देरिदा के उस नैतिक साहस की प्रशंसा की है जिसने अमेरिकी येल विश्वविद्यालय के कुख्यात मार्क्सवादविरोधी पॉल डी मॉन, ल्योटार्ड, फ्रांसिस फूकोयामा तथा उग्र सुधारवादियों से उन्हें अमूमन दूर रखा। एजाज़ अहमद ने देरिदा को सामाजिक प्रतिक्रियावाद की श्रेणी में बैठाने से साफ इनकार किया है और विखंडनवादी अलंकृत सांकेतिकता की देरिदाई भाषा में निहित असीमित संभावित अर्थ के महत्त्व को खुले मन से स्वीकार भी किया है। बहरहाल! विखंडनवाद की सच्चाई जो भी हो, किन्तु इस बात में काफी दम है कि अधिकांश उत्तरआधुनिकतावादी चिन्तन और सिद्धान्त का रिश्ता देरिदाई विखंडनवाद एवं पाठ की अनिश्चितता से कहीं अधिक भूमंडलीय पूँजीवाद के बाजार की ताकतों से है, इसलिए उनके प्रत्येक सिद्धांत को उस व्यवस्था की अस्तित्व-रक्षा और संकुचित हितों के वैधानीकरण के लिए प्रजातांत्रिक मूल्यों की नकलची मुद्रा में खड़ा होना भी जरूरी है। देरिदा येल विश्वविद्यालय के अपने संगी-साथियों से इस मायने में भी भिन्न हैं कि वह महसूस करते हैं कि कहीं कुछ गड़बड़ है जिसे सुधारा जाना चाहिए, किन्तु उनका दार्शनिक चिन्तन पूँजीवाद के निष्क्रिय प्रतिरोध पर थमा हुआ है, मानो पूँजीवाद की असंगतियाँ मानव-स्वभाव की अपूर्णता का परिणाम हों अथवा स्वयं प्रकृति में ही निहित किन्हीं कमजोरियों का नतीजा हों। वह परिवर्तन का पाठ भी रचते हैं, किन्तु यह पाठ भी भाषिक प्रत्यय—'लिंग्विस्टिक डिजाइन' के यूटोपिया में डूबा हुआ है, न कि उसका आधार आज के पूँजीवाद का वास्तविक अनुभव है।

व्यापक अर्थ में यह पूँजीवाद के वैचारिक संकट की दार्शनिक परिणति भी है। व्यवहार से सिद्धान्त के अलगाव का यही नतीज़ा हो सकता है। उत्तरआधुनिकतावादी चिंतकों की बद्धमूल धारणा है कि आज का समाज जहाँ आकर ठहर गया है उसके आगे राह नहीं है। इस समाज के भीतर मनुष्य पूरी तरह से ऐसी शक्तियों के वशीभूत है जिनसे न तो मुक्ति सम्भव है और न उन पर नियंत्रण ही। वे आज के पूँजीवाद की सीमाओं और उसके परिणामों को स्वयं विकास के अन्तिम चरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं, ताकि यह अहसास बराबर बना रहे कि वे सीमाएँ

एवं उसके नतीजे उसके पक्ष में गढ़ी गईं दलीलों की नहीं बल्कि स्वयं सामाजिक विकास की ही सीमाएँ हैं। एक ठहरा हुआ समाज ठहरे हुए चिन्तन को जन्म देता है। किन्तु यह उससे भी अधिक जैसा कि रणधीर बताते हैं, 'उस मोहभंग को उजागर करता है जो हमारे समय में समाजवाद की विफलता से पैदा हुआ है। साथ ही रेनेसां की विचारधारा से जगी उम्मीदों पर पानी फिरने से और सर्वोपरि रूप से व्यवस्था के सामने अकादमिक बुद्धिजीवियों के घुटने टेकने से। किन्तु इससे भी ज्यादा उस स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया है जो समकालीन पूँजीवाद से पैदा हुई है।' यह यही दर्शाता है कि कुछ अपकर्षित विचार-श्रेणियों ने जाने-अनजाने उनके दिलोदिमाग़ में जगह बना ली है जिनके बारे में वे स्वयं भी सचेत नहीं हैं। आज के युग में समुन्नत प्रचार-साधनों से जो संस्कार तेजी से बन और बनाए जा रहे हैं, वैसे में मस्तिष्क के अनुकूलन के दबाव-क्षेत्र से बाहर निकलना और भी कठिन हो गया है।

उत्तर आधुनिकतावादी दार्शनिकों के लिए अतीत की वे उपलब्धियाँ भी कोई खास मायने नहीं रखतीं जिन्होंने मानव-प्रगति को सम्भव बनाया है। जिन सोपानों को पार कर आधुनिक समाज उत्तरआधुनिक चरणों में पहुँचा है, उत्तरआधुनिक सिद्धांतकार उन सोपानों के ऐतिहासिक महत्त्व को भी स्वीकार नहीं करते। जो कुछ भी आज प्रत्यक्ष एवं वर्तमान में स्वीकृत एवं प्रभावी है वही अन्तिम भी है। यह नयी मानसिकता आज के उपभोक्तावादी समाज के अनुकूल है। परिवर्तन और विकास में निहित निरन्तरता का निषेध इतिहास-विरोधी कर्म है। अतः उत्तरआधुनिकतावादी दार्शनिक पूँजीवादी अकादमिक दर्शनशास्त्र की क्षतिपूर्ति के लिए मध्यकालीनता को प्रेरणास्त्रोत की तरह इस्तेमाल करते हैं। इसलिए वे कभी दुनिया के श्रेष्ठ एवं उदार मानवतावादी शिक्षाओं, परम्पराओं एवं सामाजिक क्रांतियों के पक्षद्रोही नीत्शे और हाइडेगर की ओर झुकते हैं, तो कभी इतिहास-दर्शन के ईसाई मतवाद की ओर।

'उत्तरसिद्धांतों' में 'अंत' पर बड़ा जोर है। ऐसा लगता है कि 'उत्तर' स्थितियाँ एक निषेधवादी दार्शनिक अभिवृत्ति है जो किसी उद्देश्यपूर्ण कर्म की सम्पन्नता की सम्भावना तक को नकारती है। ऐन डगलस ने उत्तर-आधुनिकता की इस निषेधात्मक प्रवृत्ति के दो प्रमुख सहयोगियों का उल्लेख किया है। एक तो, उत्तरआधुनिकता के उत्थान के भौतिक कारणों में अमेरिका की वैश्विक श्रेष्ठता और उसे स्वीकृति दिलाने वाली एटमी ताक़त, कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी, टेलीविजन नेटवर्क और सर्वोपरि रूप से शक्तिशाली परादेशीय निगमों की भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता। आर्थिक समृद्धि और सैनिक शक्ति कुछ भी सही ठहराने के लिए पर्याप्त हैं। दूसरी घटना समाजवाद की चुनौतियों का निपटारा थी। सो भी सुलट गई। सत्ता और शक्ति के नये भाष्य को तो जन्म लेना ही था।

उत्तरआधुनिकतावाद एक स्वनिर्मित दार्शनिक चिंतन-प्रणाली– 'अ सेल्फ कंटेंड फिलासॅफिकल सिस्टम' की तरह उभरा है जो पूँजीवादी दार्शनिक चिंतन में निहित सर्वाधिक निषेधवादी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है इस वस्तुजगत में घटित होने वाली क्रियाएँ किसी

नियम-विधान से परे हैं। महावृत्तांतों की समाप्ति, सामाजिक क्रान्तियों की निस्सारता, समाज और मार्क्सवाद की मृत्यु, सभ्यताओं का संघर्ष एवं इतिहास का अंत जैसी सारी उत्तरआधुनिकतावादी व्युत्प्रेक्षाएँ उसी ओर इंगित करती हैं। उत्तरआधुनिकता की ये सभी संकल्पनाएँ विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर आधारित पश्चिम के अतिविकसित औद्योगिक समाज की विचारधारात्मक अभिव्यक्ति हैं जो इस विश्वास से जन्म लेती हैं कि दुनिया का एकमात्र पवित्र तीर्थस्थल पूँजीवादी बाजार है और उसमें बिकने वाली हर उपयोग की वस्तु के साथ विचार और सिद्धांत भी— क़ाबा का पवित्र पत्थर है। फिर यह स्वीकार कर लेने में कहाँ असुविधा है कि 'गरीबी तो सामूहिक निर्यात है और सफलता सिर्फ वैयक्तिक उद्यम का नतीजा है'। संचार की प्रभावशाली ताक़त के सहारे उत्तरआधुनिकतावाद पूँजीवाद विरोधी मस्तिष्क में कुछ बद्धमूल अनिवार्य भ्रमों को रोपने की कोशिश करता है। इसी कारण उत्तरआधुनिकतावाद के विपक्ष में तर्क-वितर्क मार्क्सवादी 'पॉलिमिक्स' के एजेंडे पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा है।

उत्तरआधुनिकतावाद महज एक 'वाद' अथवा विचारधारा नहीं है। वह एक सम्पूर्ण मनोदशा, जीवन-शैली एवं सांस्कृतिक व्यवहार भी है जिसने हमारी भाषा, साहित्य, कला, संस्कृति बोध एवं सर्वोपरि रूप से हमारी सौन्दर्याभिरुचि तक को प्रभावित किया है तथा उन क्षेत्रों में भी तेजी से पसरा है, जिनका अब तक पूँजीवादीकरण होना शेष था मसलन, मानवीय रिश्तों का क्षेत्र। उस पर थोड़ा ठहरकर विचार करूँगा। फिलहाल यह देखना प्रासंगिक होगा कि संचार-युग की समस्याएँ उग्र उपभोक्तावाद की समस्याएँ भी हैं। प्रौद्योगिकी आधारित उत्तरआधुनिकता का यह एक दूसरा वैचारिक पक्ष है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में आज नई उत्पादक शक्तियों ने समाज के प्रायः सभी मोर्चों पर अपनी उपस्थिति दर्ज की है। पूँजी-बाजार-वाणिज्य-व्यापार, असंख्य किसानों एवं खेतिहर मजदूरों को विस्थापित करने वाला परिवर्तनकारी भूस्वामित्व, स्टॉक एक्सचेंज की बड़ी कंपनियाँ, स्वतंत्र व्यावसायिक संस्थानों, निगमों एवं उत्पादक संघों, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली एवं बहुराष्ट्रीय निगमों के उदय एवं विकास ने आधुनिक सभ्यता और संस्कृति, सामाजिक तहज़ीब एवं बर्ताव के नए तौर-तरीकों को प्रौद्योगिकी एवं तकनीकी क्रान्ति के समान ही बुनियादी रूप से प्रभावित किया है। ये परिवर्तन सामाजिक संरचना के अंग हैं और उन्हें ही उत्तरआधुनिक समाज की नई परिस्थितियाँ भी कहा जाता है।

उत्तरआधुनिकता का सांस्कृतिक परिदृश्य ग्रेशम के नियम की याद दिलाता है 'द बैड क्वायन ड्राइव्स द गुड क्वायन्स आउट ऑफ सरकुलेशन'। आज पूरी संचार प्रणाली महाजनी पूँजी की गिरफ्त में है। उसकी आमद का बहुत बड़ा स्रोत विज्ञापन है जिसे झूठ और फरेब बाँटने का सरकारी लाइसेंस प्राप्त है। समस्त उत्तरआधुनिकतावादी विमर्श पूँजीवाद के तीसरे चरण— बहुराष्ट्रीय निगमों वाले पूँजीवाद में मीडिया एवं विज्ञापन की ताकत पर आश्चर्यजनक रूप से निर्भर है। नार्मन गेरास का कहना है कि जो कुछ भी हम टेलीविजन पर देखते हैं वह हमें अपने जीवन से ज्यादा वास्तविक लगता है जिसमें राजनीतिक बहस के नुक़्ते सीधे पूँजी के निर्देश पर

तय किए जाते हैं, क्योंकि ज्ञान और संप्रेषण अब ज्यादा-से-ज्यादा महारथी निगमों के हाथों में है। यदि ऐसा न होता, तो कोई वजह नहीं है कि भारत की आजादी की स्वर्ण जयंती का प्रायोजक एक मल्टीनेशनल कंपनी का उत्पाद्‌य कॉलगेट टूथपेस्ट होता। लेकिन आज के बदले हुए परिदृश्य में 'शक्तिशाली ही जीने का अधिकारी भी है' का पुराना सामाजिक डार्विनवाद नये रंग-रोगन में सामने आया है। अब बाहुबल का स्थान बुद्धिबल ने ले लिया है। 'ज्ञान ही शक्ति है' का नारा आकर्षक होते हुए भी छद्म चेतना है, क्योंकि उत्तरआधुनिकतावादी ज्ञान-मीमांसा में ज्ञान वही है जो 'पवित्र बाजार की पावनता' की रक्षा कर सके। अब चूँकि बाजार-केंद्रित राष्ट्रवाद को आर्थिक उपनिवेशवाद में बदलने के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा ज्ञानोदय युग के मूल्य एवं सामाजिक क्रान्तियों के वैचारिक आदर्श हैं, अतः उन्हें हर स्तर पर असफल बताकर ख़ारिज करना भी जरूरी है। आज की प्रौद्योगिकीय क्रान्ति इस उल्टी लहर का शिकार है, तो इसलिए कि जिन लोगों के हाथों में पूँजी और सत्ता केन्द्रित है, उन्हीं के हाथों में विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं ज्ञानशक्ति की बागडोर भी है। जिगमुंट बौमा ने 'इंटिमेशन्स ऑफ पोस्टमॉडर्निटी' नामक पुस्तक में बताया है कि इस गहराते हुए संकट ने स्वीकृत ज्ञान की वैधता को तो चुनौती दी ही, स्वयं उस ज्ञान को विरचित—'डीकंस्ट्रक्ट' करने की प्रक्रिया भी शुरू हुई।

फ्रेडरिक जेमसन ने पिछली सदी के छठे दशक में हुए व्यापक सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक बदलावों को उत्तरआधुनिकतावादी सोच और व्यवहार की पूर्वपीठिका कहा है। युद्धोत्तरकाल जो पूँजीवाद का स्वर्णयुग भी है, में उपभोक्ता सामग्री के अल्प उत्पादन एवं टेक्नालॉजिकल क्राइसिस को दूर करने के लिए विचारधारा और इतिहास की नहीं पूँजी और प्रौद्योगिकी की जरूरत थी। यह शीतयुद्ध का दौर था जिसे वर्गसंघर्ष एवं विचारधाराओं की समाप्ति और उनके अनुपयोगी हो जाने के साथ उनके बचे-खुचे प्रभावों को भी योरोपीय जनमानस से लगभग धो डाला। यह आधुनिकता की आलोचना का दौर था और उत्तरआधुनिकता की शुरुआत का भी। फ्रेडरिक जेमसन ने मध्य 18वीं सदी से अब तक पूँजी और प्रौद्योगिकी के संयुक्त विकास के तीन गुणात्मक उछालों को स्वयं पूँजीवाद की तीन निर्णायक मंजिलों—औद्योगिक पूँजीवाद, महाजनी पूँजीवाद और आज के बहुराष्ट्रीय निगमों वाले पूँजीवाद से जोड़कर सर्जनात्मक लेखन के क्रम में यथार्थवाद, आधुनिकतावाद और उत्तरआधुनिकतावाद का श्रेणी-विभाजन भी किया है। जेमसन की दृष्टि में पूँजीवाद का तीसरा चरण अब तक के पूँजीवाद का विशुद्धतम रूप है जो पूर्व औद्योगिक समाज के प्रायः सभी रूपों एवं पारम्परिक मानवीय रिश्तों को ध्वस्त कर उसे अतीत का शोक-गीत बना देता है। अन्र्स्ट मेंडल के शब्दों में उसकी विशेषता है, मोटरकार एवं हथियारों का भव्य उत्सवीकरण, 'ए ग्रैंड सेलिब्रेशन ऑफ मोटर कार्स एण्ड मशीन गन्स'। दूसरे शब्दों में, उपभोक्तावाद और युद्ध आपस में नत्थी हैं, ऐसा अमेरिकी अर्थशास्त्री मेंडल भी स्वीकार करते हैं। उत्तरआधुनिकतावादी सत्ता-मीमांसा का सम्बन्ध पूँजीवादी विकास के इसी तीसरे चरण से है।

एकाधिकारवादी निगमों ने विश्वग्राम– 'ग्लोबल विलेज' की धारणा को बहुप्रचारित किया है। इसी तरह प्रौद्योगिकी प्रेरित संस्कृति ने लोकप्रिय कला को सम्भव बनाया। उसने प्रबुद्ध पाठक वर्ग के समानान्तर एक नया पाठक समुदाय साथ-साथ तैयार किया। इस समुदाय में गाँवों, कस्बों से लेकर शहरों और महानगरों की भीड़ जैसी इच्छा रखने वाले तथा उसी तरह का आचरण करने वाले लोग शामिल थे। फिल्म, टी.वी. सीरियल, रहस्य, रोमांच, षड्यंत्र, हत्या, अपराध, सेक्स, हिंसा, जासूसी और सस्ती रूमानी भावुकता पर आधारित भारी संख्या में बिकने वाले सनसनीखेज-हैरतअंगेज कारनामों से भरे उपन्यास, पत्र-पत्रिकाएँ, फोटो कैलेंडर, बच्चों और किशोरों को लुभाने वाले फैंटम आदि के रंगीन लघुकथाचित्र का व्यापक पैमाने पर उत्पादन महानगरीय अभिजातों की अभिरुचियों तथा छोटे शहरों के लोगों की निष्क्रियता दोनों को संतुष्ट करने वाले होते हैं। संगीत की दुनिया में कैसेट रिकार्डर सीडी, डीवीडी, डिस्क एंटीना, केबल और आसानी से जेब में समा जाने वाले मोबाइल हैंडसेट, आइपॉड एवं सिंथेसाइजर इसी जन समुदाय की रुचियों के अनुकूल होते हैं और ये 'हिट्स' व्यावसायिक तरीके से तैयार किये जाते हैं। यह कलाबोध-सौन्दर्यबोध का उत्तरआधुनिक परिदृश्य है। किन्तु जो बात यहाँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, वह यह है कि कलात्मक सृजन के क्षेत्र में आये इन परिवर्तनों का कारण जनता की कलात्मक अभिरुचियों एवं आस्वाद में किसी रेडिकल उत्थान अथवा परिमार्जन नहीं है, बल्कि बहुराष्ट्रीय निगमों वाले मंडी अर्थतंत्र में घुमक्कड़ी पूँजी की परादेशीयता है जिसने वाणिज्य, व्यापार, राजनीति और अर्थशास्त्र के अलावा मानसिक उत्पादन के सर्जनात्मक रूपों– साहित्य, कला, संगीत, रंगमंच आदि को भी पूँजी और प्रौद्योगिकी के प्रभाव-क्षेत्र के भीतर अनुशासित कर रखा है। जेम्स पेत्रास ने उसे सांस्कृतिक मोर्चे पर बहुराष्ट्रीय निगमों वाले पूँजीवाद के असैन्य तरीकों का विस्तार कहा है जो राजनीतिक सैन्य प्रभुत्व और आर्थिक शोषण से गहराई से जुड़ा हुआ है। पेत्रास के ये शब्द पठनीय है :

''सांस्कृतिक साम्राज्यवाद पारम्परिक एवं आधुनिक दोनों ही तरीके अपनाता है। पिछली सदियों में चर्च, शैक्षणिक व्यवस्था और जनअधिकारियों ने स्थानीय लोगों में दैवीय या सर्वशक्तिमान सिद्धांतों के नाम पर वफादारी और समर्पण को तैयार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है, जबकि सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की ये पुरानी पद्धतियाँ अभी भी काम कर रही हैं। नये आधुनिक साधन समकालीन संस्थाओं में जड़ फैला चुके साम्राज्यवादी प्रभुत्त्व को बढ़ाने में प्रमुख हैं। जनसंचार माध्यम, प्रचार विज्ञापन और निरपेक्ष मनोरंजनकर्मी तथा बुद्धिजीवी इधर एक मुख्य भूमिका अदा कर रहे हैं। आज की दुनिया में वैटकिन, बाइबिल या राजनीतिकों के जनता पर प्रभाव से हॉलीवुड, सीएनएन और डिज्नीलैंड ज्यादा प्रभावशाली हैं।''

आप जेम्स बांड के फिल्मों को देखें। उसमें एक सर्वशक्तिमान नायक– 'सुपर हीरो' है जो अकेले अपने बूते पर बड़ी से बड़ी ताकत को अपनी सूझबूझ से ध्वस्त कर देता है। वह रंगीन मिजाज भी है और क्रूर हत्यारा भी। वह हर तरह के नियम एवं विधान से ऊपर है। यह सब

वर्तमान पूँजीवाद के घोर व्यक्तिवादी चरित्र, सर्वशक्तिसंपन्नता एवं सुनिश्चित अपराजेयता को ही रेखांकित करता है।

यह अकारण नहीं है कि उत्तरआधुनिक इतिहासबोध और कलाबोध दोनों कलात्मक प्रस्तुति के उन मानदंडों को मानने से इनकार करते हैं जो एक मॉडल के रूप में अब तक स्थापित एवं स्वीकृत थे। दोनों सचेत रूप से ऐसे किसी नियम, पद्धति अथवा सिद्धांत को किसी निर्णय का निकष मानने से इनकार करते हैं। उत्तरआधुनिकतावादी विचारक ज्याँ फ्रांव्का ल्योटार्ड ने लिखा है—

''उत्तरआधुनिकतावादी कलाकार और लेखक एक दार्शनिक के आसन पर भी हैं। जिस पाठ को वह लिखता है, जिस कृति का वह सर्जन करता है वह सिद्धांततः किसी पूर्व निर्धारित नियमों से निर्धारित नहीं होती अतः उसका मूल्यांकन भी पाठ्याकृति की उसी योजना के अनुकूल अथवा पूर्वनिर्णयों के आधार पर नहीं होना चाहिए। वे नियम और श्रेणियाँ भी वही होंगी, जिसकी खोज कलाकृति स्वयं कर रही है।''

यह 'कृति की राह से गुजरते हुए' वाला पुराना रूपवादी नुस्ख़ा है। शब्दावली भिन्न है, किन्तु अभिप्राय प्रायः वही है जो नई अमेरिकी आलोचना का था। यह सही है कि विखंडन की यह भूमिका रही है कि उसने निर्धारित अर्थ के स्थान पर वैकल्पिक अर्थ के क्षेत्र को खुला रखा है, ताकि अलंकारशास्त्र में सम्भावित अर्थोद्‌घाटन की रक्षा हो सके। उसकी त्रुटि यह है कि वह पूर्व प्रकाश्य अर्थ को ज्ञानशास्त्र की रूढ़ि मानकर अनदेखा करता है।

उत्तरआधुनिकतावादी विमर्श हमें कुछ आरामदेह खुशफहमी की दुनिया में ले जाता है। उस दुनिया का एक सच है विखंडन। उसकी दृष्टि में सच्चाई 'पाठ' अथवा 'टेक्स्ट' मात्र है। इस पाठ की विशेषता यह है कि उसका कोई भी अर्थ स्थायी नहीं हो सकता, क्योंकि अर्थ-निरूपण का कोई स्थायी मानदंड नहीं होता। इसलिए विखंडन का अर्थ हुआ प्रचलित अर्थ का नकार एवं अनुपस्थित अथवा सम्भावित अर्थ की खोज। इस दृष्टि से पूँजीवाद भी एक पाठ होगा। उसका प्रकट और प्रचलित अर्थ है : चुनाव, मतपेटियों के आगे लैंगिक समानता, वयस्क मताधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, सुविधाओं में समानता (प्रिविलेज इक्विलिटी), सद्‌भावनापूर्ण सहनशीलता और असहमति की छूट, नागरिक स्वतंत्रता और मानव अधिकार आदि। इस पाठ के अप्रकट अर्थ मसलन, नस्ली एवं जातीय भेदभाव, हथियारों की होड़, राष्ट्रीयताओं का दमन, उपनिवेशवाद, युद्ध आदि को उद्‌घाटित करें, तो विखंडनवाद स्वयं विखंडित हो जाएगा! लेकिन इससे भी महत्त्वपूर्ण है विखंडनवाद का भाववादी रंगढंग जो ज्ञान की संरचनात्मक समग्रता की धारणा का ही निषेध करता है और खंड-खंड यथार्थ को मात्र भाषिक तौर पर संगठित करता है। उसका बहुलवाद सामाजिक कर्मों के साझा अनुभवों पर नहीं, बल्कि कुछ स्थानीय अस्मिताओं एवं अनुभवों पर टिका हुआ है जिसमें कोई भी सोद्देश्यपूर्ण एकरूपता या संगति नहीं होती। इस दृष्टि से तो पूँजीवाद संरचनात्मक दृष्टि से विखंडित एवं किसी केन्द्रबद्ध व्यवस्था के

रूप, गति एवं नियमों से परे कोई तरल, अमूर्त या वायवी सत्ता होगी जिससे मानवमुक्ति का प्रयास लाजिमी तौर से निरर्थक होगा। असम्बद्धताओं से भरे इस बहुलवादी यथार्थ का पाठ इतना अराजकतापूर्ण है कि साझा हितों के लिए साझा प्रयास की समग्र दृष्टि निर्मित करने के बजाय कुछ खास मुद्दों पर बौद्धिक विमर्श मात्र तक सीमित होने के परिणामस्वरूप भूमंडलीय पूँजीवाद के ढाँचागत परिवर्तन की बात तो दूर रही उसकी ठीक-ठीक समझ भी विकसित नहीं होने देता।

सांस्कृतिक बहुलवाद से भला कौन इनकार करेगा? किन्तु यहाँ भी उत्तरआधुनिकतावादी विखंडावाद का खंड-खंड पाखंड अपने ही तर्कों से ध्वस्त होता है। सवाल है, संस्कृति एक 'पहचान' के रूप में या एक 'माल' के रूप में ? किन्तु इस मामले में भी उत्तरआधुनिकतावादी 'एप्रोच' छोटे-छोटे सांस्कृतिक समुदायों को भी उनके हित-रक्षार्थ स्वतंत्र रहने की अनुमति देता है। इस तर्क से तो भारत जैसे बहुलवादी संस्कृतियों के देश में अनेक देश बनेंगे। विडम्बना यह है कि यह तर्क योरोप पर लागू नहीं होगा। इसका दूसरा पहलू होगा अपने तंग दायरे में बँधी सांस्कृतिक अस्मिताएँ इस तरह सोचने की आदत डालें कि वास्तविक शत्रु की पहचान मुश्किल हो जाये। सर्वोपरि रूप से उसका परिणाम उन सांस्कृतिक अस्मिताओं की सुरक्षा के लिए साम्राज्यवादी देशों पर बढ़ी उनकी परनिर्भरता के अलावा और क्या हो सकता है? यह अस्मिताओं के संरक्षण का नहीं उनका अधिग्रहण है। कहने की जरूरत नहीं, उत्तरआधुनिकतावादी सांस्कृतिक बहुलवाद का पक्षधर दर्शन अपने दावों एवं दंभोक्तियों के बावजूद उपभोक्तावादी समाज और भूमंडलीय पूँजीवाद के हितों का बराबर ख्याल रखता है। सामाजिक क्रान्तियों और मार्क्सवाद पर उसकी विशेष कृपा इसलिए भी है कि वह जितना ही 'व्यक्तिगत राजनीतिक भी है' के मानदंड से इतिहास को नापने की कोशिश करता है उतना ही उसके विखंडवादी राजनीतिक पैंतरेबाजी की पोल भी वे खोल देते हैं। 1848 की जर्मन क्रान्ति की असफलता के तक़रीबन एक सौ साठ-बासठ वर्ष बाद मार्क्स की यह भविष्यवाणी एक बार फिर सच साबित हुई है कि पूँजीपति वर्ग और उनके बौद्धिक प्रवक्ता अब भरोसे के क़ाबिल नहीं हैं। यहाँ तक कि बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रान्ति के लिए भी उनका एतबार नहीं किया जा सकता। हर आर्थिक आधार अधिरचना के रूपों को निर्धारित करता है, मार्क्स की इस स्थापना की सच्चाई का इससे बढ़िया प्रमाण और क्या हो सकता है?

उत्तरआधुनिकता का एक पक्ष भूमंडलीकरण भी है। भूमंडलीकरण सिर्फ सैद्धांतिक बहस का नुक़्ता नहीं है। उसका सीधा सम्बन्ध राजनीतिक व्यवहार यानी 'पॉलिटिकल प्रैक्टिस' से है। वह उत्तरऔपनिवेशिक समाज में ऐसे बहुनिगमित पूँजीवाद का युक्तिकरण करता है जो वर्ग-समाजों की प्रकृति में ही निहित शोषण, अमानवीयता और अतिरिक्त मूल्य के अधिग्रहण के विषय में हमारे राजनीतिक व्यवहार को तत्काल प्रभावित करता है। इसलिए एक जैविक प्रक्रिया के रूप में भूमंडलीकरण स्वयं पूँजीवाद के विस्तार के अलग-अलग चरणों के अध्ययन की माँग

करता है, जैसा कि एक समय में मार्क्स ने 'कैपिटल' में नवोदित पूँजीवाद और राष्ट्रीय बाजार के विकास के संदर्भ में किया था और लेनिन ने विश्व बाजार पर काबू पाने वाले पुराने साम्राज्यवाद के तौर-तरीकों के अध्ययन के सिलसिले में 'साम्राज्यवाद : पूँजीवाद की चरण अवस्था' में किया था। कारण कि, जैसा कि फ्रेडरिक जेमसन ने लिखा है, ''भूमंडलीकरण के बारे में हमारा हर रुख चाहे वह पक्ष या विपक्ष में हो, एक समय में दबे या प्रकट रूप में अनिवार्यतः वही होगा जो आज के बहुराष्ट्रीय निगमों वाले पूँजीवाद के प्रति हमारे राजनीतिक दृष्टिकोण का होगा।'' तभी यह तस्वीर साफ होगी कि भूमंडलीकरण के पक्ष में जो तर्क और सिद्धांत गढ़े गए हैं वे उत्तरऔपनिवेशिक दौर में नवआर्थिक साम्राज्यवाद की सुरक्षा के पक्ष में बनाए गए सिद्धान्त हैं और क्यों भूमंडलीकरण के स्वयंभू भाष्यकार हेनरी किसिंगर, टॉमस एल फ्रीडमैन, फ्रांसिस फूकोयामा और मैल्कम वाटर्स सामाजिक क्रान्तियों एवं शास्त्रीय पूँजीवाद के सर्वमान्य सिद्धान्तों एवं वर्ग-संघर्ष के सार्वजनीन मार्क्सवादी अभिगमों को नहीं मानते।

उत्तरआधुनिक संस्कृतिवाद और भूमंडलीकरण में गहरा रिश्ता है। दरअसल यह झूठ के महाख्यानों के बीच सत्य के एक पल की पहचान की समस्या है। भूमंडलीकरण का अर्थ है, अमरीकीकरण-या तो आप अमेरिका जैसा बनें या अमेरिकी प्रभुत्व को स्वीकार कर उसके पक्ष में खड़े हों। अमेरिका के पूर्व विदेशमंत्री हेनरी किसिंगर ने 12 अक्टूबर 1999 में डब्लिन ट्रिनिटी कॉलेज में दिये अपने व्याख्यान में भूमंडलीकरण का यही अर्थ किया है। उन्होंने कहा, ''बुनियादी चुनौती यह है कि जिसे भूमंडलीकरण कहा गया है वह अमेरिका के अधिकार-क्षेत्र की रक्षा और वर्चस्व जमाये रखने सम्बन्धी भूमिका का ही दूसरा नाम है।''

फ्रांसिस फूकोयामा 'इतिहास का अंत' के दार्शनिक हैं। वे उदारवादी लोकतांत्रिक पूँजीवाद के समर्थक हैं। बाजारोन्मुख खुले अर्थतंत्र की भूमंडलीय व्यवस्था में उनकी अपार निष्ठा है। हेनरी किसिंगर की तरह वे भी भूमंडलीकरण को अमेरिकीकरण ही मानते हैं। अपने एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा, ''मैं सोचता हूँ कि ऐसा ही होना चाहिए, लेकिन कुछ लोग ऐसा कहा जाना पसन्द नहीं करते। मेरा अपना मत है कि इसे अमेरिकीकरण ही होना चाहिए, क्योंकि कुछ मामलों में अमेरिका आज दुनिया का सर्वाधिक उन्नत पूँजीवादी समाज है और इस लिहाज से इसके संस्थान बाजारशक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए अगर बाजार ताकतों को वैश्वीकरण संचालित करता है, तो अनिवार्य-सी बात है कि भूमंडलीकरण के साथ अमेरिकीकरण होगा।'' भूमंडलीकरण के इस उपभोक्तावादी स्वर्गलोक की कल्पना टॉमस एल फ्रीडमैन ने 'न्यूयार्क टाइम्स' एवं 'न्यूयार्रकर' में लिखे अपने स्तम्भों में की है। निश्चय ही भूमंडलीय संस्कृतिवाद की यह अवधारणा अमेरिकी जीवन शैली और अमेरिकी पूँजीवाद के विस्तार को ही सिद्ध करती है, जिसके एक हाथ में कम्प्यूटर सॉफ्ट विंडो है और दूसरे हाथ में पिज्जा हट, मैक्डोनाल्ड रेस्त्रां और कोक-पेप्सी। जो कुछ उससे इतर है, बेमेल है, वे सब भूमंडलीकरण के दायरे से बाहर हैं। इससे अलग विकास का न तो कोई दूसरा तरीका हो सकता है, न जीवनदर्शन,

न जीवनमूल्य और न कोई सभ्यता और संस्कृति ही। भूमंडलीकरण-वैश्वीकरण-विश्वग्राम, मीडिया-सोसाइटी आदि सभी संकल्पनाएँ उत्तरऔपनिवेशिक काल में बहुराष्ट्रीय निगमों वाले पूँजीवाद जिसका अगुआ अमेरिका है, के अदृश्य हाथ हैं जो बिना किसी खेद या ग्लानि के जनसमस्याओं, जरूरतों एवं आकांक्षाओं के प्रति उतना ही तटस्थ एवं उदासीन है, जितना वह कुछ थैलीशाह देशों की संयुक्त पूँजी-खासकर अमेरिकी पूँजी एवं प्रौद्योगिकी के सीमाहीन विस्तार के लिए कृतसंकल्प है।

टेरी एगल्टन ने 'एल्युजन्श ऑफ पोस्टमाडर्निजम' में बहुत सही लिखा है कि ''भूमंडलीकरण जिस संस्कृतिवाद को अपना राजनीतिक संरक्षण देता है वह पश्चिम का चोरदरवाजा है जिसका उपयोग वह साम्राजी शक्तियों के विरुद्ध हर तरह के विरोध को दबाने और प्रभुत्वशाली पश्चिम की उठी हुई आँख को हमेशा सुरक्षा-घेरे में रखने के लिए करता है। भूमंडलीकरण सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के ऐसे रूप को प्रकट करता है जो राष्ट्रों के आर-पार पारस्परिक मेल-जोल से नई संस्कृतियों के निर्माण और विकास को नहीं; बल्कि संस्कृतियों के दमन और उत्पीड़न के कारण वर्चस्वशाली संस्कृति के आक्रामक रूप को ही दर्शाता है। सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी की मोटी चादर कमजोर राष्ट्रों की सांस्कृतिक स्वायत्तता को या तो पूरी तरह ढँक कर उसे चेहराविहीन एवं निष्प्रभावी बना देती है या फिर उन्हें दबाकर उनके अस्तित्व को ही नष्ट कर देती है।'' जब-तब उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया में आतंकी कार्रवाई होती है। अगर ऐसा न होता तो 9/11 की घटना होती ही क्यों ?

इसलिए आज के भूमंडलीकरण के दौर में संस्कृति की समस्या उसके पश्चिमीकरण-अमेरिकीकरण से कहीं अधिक गम्भीर ख़तरे की ओर संकेत करती है। पश्चिमीकरण की प्रतिक्रिया में उपजी वह अंधराष्ट्रवाद के पुनरागमन की उतनी नहीं है जितनी धार्मिक तत्त्ववाद के पुनरागमन की है जो धर्म, नस्ल एवं प्रजाति की शुद्धता और श्रेष्ठता के महापातकी सिद्धान्तों से जुड़कर फासीवाद के पनपने के लिए सबसे मुफीद मौका मुहैया कराती है। ध्यातव्य है कि संस्कृतियाँ निरपेक्ष ढंग से स्वतंत्र नहीं होतीं। वे सामाजिक इतिहास का हिस्सा होती हैं। उसके विकास एवं नई विश्वव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए सभ्यताओं के संघर्ष की अनिवार्यता जरूरी नहीं है, किन्तु सैमुअल हटिंगटन ने आश्चर्यजनक रूप से अपनी पुस्तक का नाम 'द क्लैस ऑफ सिविलाइजेशन एण्ड रीमेकिंग ऑफ द वर्ल्ड ऑडर' रखा है, मानों मानवजाति के विकास के लिए सभ्यताएँ आपस में टकराकर नष्ट हो जाने के लिए गले मिलेंगी।

अन्त में एक बात और। हमारे यहाँ उत्तरआधुनिकतावादी समाजशास्त्र और भूमंडलीकरण का समर्थक व्यापक सामाजिक आधारवाला पढ़ा-लिखा मध्यवर्ग है। अँग्रेजों की दो सौ साल की गुलामी में भारत का औपनिवेशिक बुर्जुआ-मध्यवर्ग का पढ़ा-लिखा तबका जिस बौद्धिक एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्वान्तरण के दौर से गुजरा था, पश्चिम के सम्मोहन ने उसे आज भी बाँधे रखा है। भारत से उपनिवेशवाद की विदाई के बाद उसे अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने का खुला

मौका मिला है। भूमंडलीकरण ने मध्यवर्ग की उन्हीं आकांक्षाओं को एक बार फिर से हवा दी है जो औपनिवेशिक शासनकाल में अधूरी रह गई थीं। उत्तरआधुनिकतावादी वैचारिकी उन्हें इसलिए भाती है कि उससे उनकी अतृप्त कामनाओं-धनार्जन एवं खुले भोग को बौद्धिक सम्बल मिलता है। परिणामस्वरूप भारतीय मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों ने भूमंडलीकरण की सार्वभौमिकता का न केवल स्वागत किया है, बल्कि उसके प्रवाह को त्वरित करने में उत्प्रेरक की भूमिका भी निभाई है। कहने की जरूरत नहीं कि उसके लिए उत्तरआधुनिकता का अर्थ है अँग्रेजी भाषा और भूमंडलीकरण का मायने है, मैककल्चर। वह एक भिन्न संदर्भ है। उस पर फिर कभी।

62 वन विहार कॉलोनी, टोंक रोड
जयपुर – 302018 राजस्थान

राष्ट्रीय संस्कृति और राष्ट्रीय साहित्य

- रामरतन भटनागर

साहित्य की राष्ट्रीयता की मांग अपेक्षाकृत नई मांग हैं । हम साहित्य के शाश्वतत्व को बराबर पहचानते आये हैं और यह भी समझते आये हैं कि श्रेष्ठ साहित्य देश-काल की सीमाओं में नहीं बँधता। भवभूति ने देश-काल को निस्सीम बताते हुए 'समानधर्मा' के प्रति आकांक्षा प्रगट की है। पृथ्वी विराट् है और देश-काल असीम है, इसलिए श्रेष्ठ साहित्यकार को समानधर्मी साहित्यकार अथवा समीक्षक (सहृदय) अवश्य मिलना चाहिये। देश-काल में दूर साहित्यों के बीच में आदान-प्रदान की बात इसलिए चलती है कि हम साहित्य को मूलभूत, सर्वजनीन और माननीय मानते हैं। यदि साहित्य की सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता सत्य है तो राष्ट्रीय साहित्य का क्या अर्थ होगा?

राष्ट्रीय साहित्य के मूल में 'राष्ट्र' की भावना है। परन्तु प्रश्न है कि 'राष्ट्र' क्या है? 'राष्ट्र' की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि वह किसी विशिष्ट जन-समूह का नाम है जो सांस्कृतिक एक्य (कम्युनिटी ऑफ कल्चर) और भाग्यैक्य (कम्युनिटी ऑफ फेट) में एक सूत्र में बंध गया है। परन्तु यहाँ प्रश्न 'संस्कृति' का उठता है। 'संस्कृति' से क्या तात्पर्य है और सांस्कृतिक एक्य का कोई निश्चित रूप हो सकता है या नहीं? यह भी पूछा जा सकता है कि ऐतिहासिक घटनाओं या दुर्घटनाओं को समान रूप से समस्त जन एक ही प्रकार या विभिन्न रूप से अनुभव की वस्तु कब बनायेंगे? क्या किसी विशिष्ट भौगोलिक या ऐतिहासिक सीमा में रहने से यह सिद्धि स्वतः लाभ होगी। 400 ई. में सेंट आगस्टीन ने एक जन-समूह का वर्णन करते हुए उसमें 'मूल्यैक्य' (कम्युनिटी आफ वेल्यूज) का भी उल्लेख किया है। इस मूल्यैक्य से कदाचित् यह तात्पर्य है कि जन जाने कि वे समान सहानुभूति-सूत्र से एका इकाई के रूप में बँधे हैं और दूसरे जन-समूहों से इस विषय में वैभिन्न हैं।

'संस्कृति', 'ऐतिहासिक परिस्थितियों अथवा मूल्यों की समानधर्मिता या एकता साहित्य में प्रतिफलित होगी क्योंकि वह उस इकाई की विशेषता हैं जिससे व्यक्ति-साहित्यकार हमें प्राप्त होता है। जहाँ तक वह व्यक्ति है, मूल मानव है, वहाँ तक उसका साहित्य मानवीय होने के नाते सार्वभौमिक और सार्वकालिक है, परन्तु इसके अतिरिक्त उस पर देश-काल का आवरण भी चढ़ा हो सकता है। तब वह 'राष्ट्रीय साहित्य' होगा। उसमें राष्ट्रीय संस्कृति झलक उठेगी और उसके

मूल्य मानवीय होते हुए भी विशिष्ट होंगे। रही ऐतिहासिक परिस्थितियों (घटनाओं या दुर्घटनाओं) के समान रूप से अनुभव करने की बात—यह कहना कठिन है कि समस्त जन कब और किस गहराई तक अनुभूति को समान सूत्रों में बंधेगे? यह भी प्रश्न होगा कि क्या हम राष्ट्रीय साहित्य के लिए संकट या श्रेय के ऐतिहासिक क्षण की प्रतीक्षा करें जिसकी अनुभूति समस्त जन को समान हो या सभी समय सामान्य रूप से साहित्य में यह राष्ट्रधर्मीयता रहेगी?

ये कुछ प्रश्न हैं जो 'राष्ट्रीय साहित्य' या 'साहित्य में राष्ट्रीयता' से गंभीर रूप से संबद्ध हैं। 'संस्कृति' और 'मूल्य' तो और भी अजाने शब्द हैं। उनके बोध के संबंध में एकमत होना तो और भी कठिन है। 'जन' और 'राष्ट्र' में भी अंतर माना गया है। वर्क के अनुसार प्रत्येक जन स्वभावतः विशिष्ट सामाजिक अनुशासन को स्वीकार करता है और फलस्वरूप उसमें सच्चे अर्थों में राजनीतिक व्यक्तित्व (चरित्र) का विकास होता है[1] परन्तु बेनजेमिन डिसराईली 'जन' को राजनीतिक समूह ही नहीं मानते। वे 'राष्ट्रीय मन की कल्पना करते हैं और राजनैतिक संस्थान के रूप में जन-समूह को इस राष्ट्रीय जन की अभिव्यक्ति मात्र मानते हैं यद्यपि उनकी धारणा है कि राजनीतिक इकाई के नष्ट होने पर 'राष्ट्रीय मन' का भी नाश हो जाता है।[2] प्रश्न अनिवार्यतः होगा कि 'राष्ट्रीय मन' से क्या तात्पर्य है और उसका प्रत्येक जन (व्यक्ति) से क्या संबंध है? सर अरनेस्ट बार्कर के अनुसार विचार और अनुभूति की समानता और एकरूपता ही 'राष्ट्रीय मन' है जो समान इतिहास माध्यम से विकसित हुई है।[3] ओडो बाउर ने इस 'राष्ट्रीय मन' को भी दो तत्त्वों में बाँटने का प्रयत्न किया है। ये तत्त्व हैं राष्ट्रीय चरित्र्य और राष्ट्रीय धारणा-शक्ति या संकल्प (विल)।[4] इस प्रकार 'राष्ट्र की कल्पना अंततः मनोवैज्ञानिक प्रश्न बन जाती है। परन्तु इस 'राष्ट्रीय मन' को विचारक एकदम सूक्ष्म और व्यावहारिक वस्तु मानते हैं जैसा जे. स्ट्रासर और स्टालिन के मंतव्यों से स्पष्ट है।[5] इसमें संदेह नहीं कि स्टालिन की व्याख्या में राष्ट्रीयता के उपकरणों को ग्रहणशील इकाइयों में बांधने का प्रयत्न हुआ है : ऐतिहासिकता, भाषा-साम्य, भौगोलिक एक्य, आर्थिक एकता और सांस्कृतिक समानता के रूप में अभिव्यक्त मनः संगठन। यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता समान विचारों और अनुभूतियों की संहृति मात्र नहीं है, उसमें असंख्य मनःमूर्तियों और प्रतिमानों की भी समाहिति है क्योंकि 'राष्ट्र' मनःबोध है, अतः 'प्रतीक' मात्र। इसीलिए हम 'राष्ट्रीय टाइप' की कल्पना करते हैं और यह समझते हैं कि राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति इस राष्ट्र-प्रतिनिधि से तुलनीय ठहरेगा। इस प्रतिनिधित्व की बात को लेकर ही 'आत्मिक इकाइयों' (स्प्रिचुअल यूनीटीज : आस्वाल्ड स्पेन्गलर), 'सामाजिक आत्माओं' (सोशल सोल्स : कार्ल लेम्प्रस), 'मानसिक संस्थानों' (मेन्टल कम्युनिटीज : फडरिक मेनेक) और 'सामाजिक व्यक्तियों' (क्लेक्टिव परसेनिलिटीज : दाउ लिगी स्टारजो) की चर्चा की गई है। अंत में हम 'संस्कृति' तक पहुँच जाते हैं। 'संस्कृति' क्या है? स्थूल रूप से संस्कृति का अर्थ[6] 'कर्त्तव्यं-अकर्त्तव्यं' से है।[7] प्रत्येक जन-समूह राष्ट्र में बंध कर करणीय-अकरणीय की कुछ पातें

बना लेता है और उसी के अनुसार नीति-अनीति, धर्म-अधर्म, राष्ट्रीय-अराष्ट्रीय की धारणा बंधती है।[8] समष्टि और व्यष्टि के दूहरे तलों पर स्वीकार-अस्वीकार, स्मरण-विस्मरण, संवेदनशीलता-असंवेदनशीलता तथा अनुच्छेद-विच्छेद के चक्र इसी विधि-निषेध पर चला करते हैं। परन्तु इस विधि-निषेध में व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न भी क्या खड़ा नही हो जाता? तब क्या यह मानना होगा कि राष्ट्रीय[9] संस्कृति के भीतर समूहगत और व्यक्तिगत चेतनाओं के चक्र चलते रहते हैं और व्यष्टि-समष्टि का द्वन्द्व भी अनिवार्य है। संस्कृति के ढाँचे के भीतर चारित्र्य और स्वातंत्र्य की व्यक्तिमत्ता के क्या अर्थ होते हैं? यह कहा गया है कि संस्कृति इतिहास की उपज है। इतिहास ही काल की छलनी में छिन्न कर संस्कृति बन जाता है क्योंकि संस्कृति अतीतध र्मी होती है और उसमें वे ही उपकरण गिने जा सकते हैं जो आज परम्परा के रूप में अवशिष्ट हैं। कभी-कभी तो उपयोगिता न रहने पर ध्वंस के रूप में ये अतीत-स्मृतियाँ बनी रहती हैं अथवा नये युगधर्म के अनुसार अपना रूप बदल देती हैं। इसीलिए संस्कृति की एक सूक्ष्म और व्यापक परिभाषा इस प्रकार दी गई है :

By "Culture" we mean those historically created selective processes which channel man's reactions both to internal and to internal stimuli"[10]

इस परिभाषा में संस्कृति के बहिर्गत और आंतरिक दोनों पक्षों की परिबद्धता स्वीकार की गई है। बाहरी घटनाओं की प्रतिक्रिया ही नहीं, भीतरी बोध भी संस्कृति के द्वारा अनुशासित है। इसीलिए हमारे शाश्वत मानवीय संवेदन भी उतने शाश्वत नहीं हैं जितना हम समझते हैं।

यदि यह मान लिया जाये कि राष्ट्रीय चेतना और धारणा का कोई अर्थ है तो फिर प्रश्न यह उठता है कि राष्ट्र के भीतर उसका प्रसार कैसे होता है। इस संबंध में डॉ. हर्टज का यह मंतव्य महत्त्वपूर्ण है :

In the history of national development...this will was at first only that of a minority which in the course of time succeeded in joining more or less the accent of a majority...but if a people has not yet reached this stage, or if an old loyalty has been destroyed by historical events, there is no spontaneous national will but merely a water of conflicting aspirations. A nation...is a community of fate, to a large extent brought together and molded by historical events and national factions, & the individual has practically little opportunity of choosing his nationality, or changing its fundamental treats."[11]

तात्पर्य यह है कि 'संस्कृति' की तरह राष्ट्र बोध भी एक केन्द्रीय अल्पसंख्यक समाज से नीचे छन कर सामान्य जनता तक पहुँचेगा। अतः राष्ट्रीयता की भावना में विशिष्ट वर्गों की चेतना के साथ समस्त देशवासियों का हृदयस्पन्दन ग्रथित होना आवश्यक है। जब तक ऐसा नहीं

होता तब तक कोई समूह 'राष्ट्र' नहीं बन सकता। यह भी कल्पना की गई है कि पुराने भाव-सूत्रों के छिन्न-भिन्न हो जाने पर यह राष्ट्र-भावना भी नष्ट या विच्छिन्न हो सकती है और कालान्तर में उसका नई परिस्थितियों में पुनर्निर्माण भी संभव है। यह स्पष्ट है कि 'राष्ट्र' की ये परिभाषाएं आत्मगत और परगत दोनों भूमियों को उपस्थित करती हैं अथवा राष्ट्र-चेतना के अनुभूतिमय और व्यावहारिक दो पक्ष हैं। इस दृष्टि से हम उसमें तर-तमता की स्थापना कर सकते हैं। एकता, स्वतंत्रता, व्यक्तिमत्ता और गौरवमयता की राष्ट्रीय भावना से परिचालित होकर ही व्यष्टि समष्टि के प्रति बलिदानी बनता है। बलिदानी का अर्थ आत्मदानी भी हो सकता है। बलिदान अथवा आत्मदान की उत्कृष्टता तात्कालिकता और सहजधर्मिता के अनुसार हम किसी भौगोलिक जन-समूह की राष्ट्रीय चेतना की गहराई को पहचान सकेंगे।

इसमें संदेह नहीं कि राष्ट्रधर्म नया धर्म है और पश्चिम की संकीर्ण राजनीति, भौतिकवादी-विज्ञानवादी प्रेरणाओं और उपनिवेशवाद से उसका गहरा संबंध है। पश्चिम में राष्ट्रीयता का जन्म ईसाई धर्म की सार्वभौमिकता के विरुद्ध हुआ जिसे अप्रगतिशील और मध्ययुगीन कहा गया था। बाद में लोकतंत्रवाद ने उससे नाता जोड़ा और धर्मनिरपेक्षता के दावेदार होने के कारण उसने अपने को ही नये धर्म के रूप में घोषित कर दिया । परन्तु यह राष्ट्रधर्म सहजात मानवतावाद से छोटा ही नहीं, प्रकृति में उससे एकदम विपरीत भी था। उसमें मानवीय चेतना जुड़ी नहीं, खण्डित ही हुई है। परन्तु आरंभ में इस विरोधाभास को न समझ कर दोनों को एक ही मंच से साधुवाद दिया गया। फलतः यूरोपीय संस्कृति आज राष्ट्रवाद और मानववाद की दो विपरीत दिशाओं में मुख करके चलने की चेष्टा करने के कारण हास्यास्पद हो उठी है

परन्तु हम यह क्यों मानें कि यह स्थिति अनिवार्य है? जहाँ 'राष्ट्र' भौगोलिक सीमाओं और आर्थिक राजनीतिक स्वार्थों का पर्यायवाची न होकर उदात्त नैतिकता और धर्मप्राण मनुष्यता को चरितार्थ करने वाली इकाई है, वहां यह द्वन्द क्यों होगा? इसीलिए यूरोपीय अर्थों की ''राष्ट्रीयता'' उपनिवेशीय देशों और एशिया के स्वतंत्र देशों में नहीं मिलेगी। वहां उसके भीतर स्वातंत्र्य की उत्कट लालसा के साथ आध्यात्मिक स्तर पर मानवैक्य का स्पन्दन मिलेगा। भारतवर्ष के आधुनिक युग के नेताओं ने पश्चिम की स्वार्थ-पर राष्ट्रीयता की दुर्बलताओं और सीमाओं को पहले ही समझ लिया था। इसीलिए उन्होंने अपनी राष्ट्र की कल्पना उदात्त ही रखी और उसे भौतिक स्वार्थों के संपर्क से बचाकर उसमें मानववादी सूत्रों का भी विकास किया। विवेकानन्द के नव्य वेदांत और गांधी जी के अहिंसा-धर्म पर आधारित राष्ट्रीयता मानव-मात्र की श्रेष्ठतम नैतिक निधि कही जा सकती है। वैष्णव धर्म-परंपरा की उदारता से ओतप्रोत होने के कारण उसमें मध्ययुग के श्रेष्ठतम जीवन मूल्य अनायास ही समाहित हो जाते हैं। फलतः वह अविरोधी, उदार और आत्मनिष्ठ है। उसे हम आध्यात्मिक राष्ट्रीयता कह सकते हैं। पश्चिम की जीवनमानी प्रकीर्ण की राष्ट्रीयता से उसकी कोटि ही भिन्न है।

इस संदर्भ से यह स्पष्ट है कि राष्ट्र की भावना या राष्ट्रीयता का एक सांस्कृतिक पहलू भी है, या दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीयता की परिभाषा एकरूपी न होकर भिन्न रहेगी और उसमें उस संस्कृति के आदर्श भी आत्मसात हो जायेंगे जिसके भीतर से उसकी कल्पना हुई है। पश्चिम की धर्म विरोधी राष्ट्रीयता भारत की धर्मप्राण राष्ट्रीयता से निश्चित रूप से भिन्न है। यही बात चीन और दक्षिणी अमरीकी राष्ट्रों के लिए लागू होगी। उनकी राष्ट्रीयता का स्वरूप यूरोप तथा भारत की राष्ट्रीयता से भिन्न होगा। ''राष्ट्र'' आखिर क्या है? वह मनुष्यों की विशिष्ट संहति ही तो है? फिर उसके आदर्शों, आकांक्षाओं और उपलब्धियों को ही तो ''राष्ट्र'' कहा जायेगा। अतीत, वर्तमान और भविष्यत् को एक सूत्र में बांधने वाली परंपरानिष्ठा से ही राष्ट्र का निर्माण होता है। एक शब्द में, राष्ट्र संस्कृति-विशेष ही है। जहां एक ही संस्कृति के भीतर राष्ट्र-बोध है, जैसा यूरोप में, वहां राष्ट्र के अर्थ संकुचित ही माने जायेंगे। सीमा-रेखा में बंधी राष्ट्रभूमि वस्तु-चेतना है जो स्थूल उपयोगितावादी और संकीर्ण है। वह सांस्कृतिक सूत्रों की इकाई से गढ़ी व्यक्तिपरक सूक्ष्म और आत्मप्रसारी चेतना का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती। इसीलिए पश्चिम की राष्ट्रीयता जहाँ हमें छोटा बनाती है और हमारी मनुष्य की भूमिका के विरोध में पड़ती है। वहाँ भारत की राष्ट्रीयता श्रेष्ठतम मानवीय मूल्यों का पूंजीभूत स्वरूप ही कही जा सकती है। मानववाद अथवा अंतर्राष्ट्रीयता से उसका कोई विरोध नहीं है।

राष्ट्रीय संस्कृति या राष्ट्रीयता के उपकरणों के संबंध में विद्वानों ने अनेक प्रकार से विचार किया है। राष्ट्रभूमि, राष्ट्रभाषा, राजनीतिक इकाई (राष्ट्र) राष्ट्रीय सभ्यता और इतिहास राष्ट्रीयता के वस्तुपरक उपकरण हैं। इन्हें हम वहिरंग भी कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त व्यक्तिपरक अथवा आभ्यंतर तत्व भी है जैसे राष्ट्रीय चेतना या राष्ट्रीय भावन, धर्म और दर्शन जिनमें राष्ट्र-जन की आकांक्षाएं और सांस्कृतिक उपलब्धियाँ मानसिक और अत्मिक भूमि पर प्रतिथलित होती हैं। इन्हें हम राष्ट्रीयता का अंतरंग कह सकते हैं। बहिरंगी तत्वों के उद्‌भव और विकास को हम सरलता से पकड़ सकते हैं, परन्तु अंतरंगी तत्व सुक्ष्म और दुर्ग्राह्य हैं। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय चेतना या राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति राजनीतिक साहित्य, नेताओं के अभिभाषणों अथवा राष्ट्रीय संस्थाओं में देखी जा सकती है परन्तु इनके आधार पर राष्ट्रीय चेतना या अनुभूति को स्वरूप देना बड़ा कठिन है। राष्ट्रीय चेतना के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि उसका मनोवैज्ञानिक संगठन अत्यंत संश्लिष्ट है और ऐतिहासिक तथा सामाजिक तत्वों की विभिन्नता से वह अनेक रूप ग्रहण कर सकती है। अधिकांश पश्चिमी विद्वान राष्ट्रीयता को संकीर्ण अर्थ में लेते हैं और उसे अन्य राष्ट्रों से विभिन्न और विरोध में खड़ी करने वाली उन प्रवृत्तियों के रूप में देखते हैं जो गौरव, गर्व और शक्ति को अतिरेकी महत्त्व देती हैं। राष्ट्रीय चरित्र की कल्पना या संभावना के माध्यम से भी राष्ट्रीयता को व्याख्यापित करने की चेष्टा हुई है परन्तु राष्ट्रीय चरित्र क्या होगा, इस संबंध में कोई एक मत स्थिर नहीं हो सका है। ''क्या होना चाहिये'' को हमने ''क्या है'' से अधिक महत्त्व दिया है। फलतः राष्ट्रीयता की कल्पना में

हमारी आकांक्षाएं ही अधिक प्रतिध्वनित हुई हैं, वस्तुस्थिति का प्रकाशन नहीं हो सका है। एक बात और है। हम मानव-धर्म, सनातन-धर्म अथवा अंतर्राष्ट्रीय मानव की भूमिका पर ही राष्ट्रीय मानव की परिकल्पना कर सकते हैं। जिन जन-समूहों के पास ऐसी कल्पना नहीं है, उनकी राष्ट्रीयता की कल्पना उदात्त और मानवीय नहीं हो सकेगी। यह सौभाग्य का विषय है कि मानव-धर्म और चरित्र की यह उदात्त भूमि हमें अपने इतिहास के आरंभ में ही मिल गई है और इसी क्रियमाण धर्मप्राणता को हमने उन्नीसवीं शताब्दी में आध्यात्मिक राष्ट्रीयता के रूप में पल्लवित किया है। पश्चिम की भेद-मूलक भौतिकवादी राष्ट्रीयता से यह भिन्न वस्तु है।

राष्ट्र मूलतः मानव-बोध है। उसे अखण्ड मानवता की कल्पना से अलग नहीं किया जा सकता। अधिक-से-अधिक यह माना जा सकता है कि भौगोलिक, जातीय और पारस्परिक आदान-प्रदान की सुविधा-असुविधा के अनुसार क्षेत्रीय संस्कृतियों का विकास हुआ है। ये क्षेत्रीय संस्कृतियाँ राजनैतिक बोध पाकर 'राष्ट्र' का रूप धारण कर लेती हैं परन्तु राष्ट्रीय संस्कृतियों से अलग इस 'राष्ट्र' की स्थिति दुर्लभ ही है। जैसी इलियट की मान्यता है, 'संस्कृति' बहुत दूर तक 'धर्म' का पर्याय है क्योंकि जिसे आज संस्कृति कहा जाता है, वह भाव प्राचीन युगों में धर्म के नाम से चल रहा था । दोनों के तत्व बहुत कुछ समान हैं और आज भी संस्कृति के केन्द्र में धर्म की स्थिति से इंकार नहीं किया जा सकता। इस विचारणा के अनुसार राष्ट्र की धारणा में ''धर्म'' की धारणा अनिवार्यतः उभरती है। यूरोपीय राष्ट्रबोध की कल्पना हम ईसाई धर्म को छोड़कर नहीं कर सकते। उसी प्रकार भारतीय राष्ट्रीयता के केन्द्र में भारत की धार्मिक और आध्यात्मिक आकांक्षाएं प्रगट अथवा प्रच्छन्न रूप से चरितार्थ ही होंगी। धर्म क्षेत्रीय होते हुए भी सार्वभौम चेतन हैं। इसीलिए उसने राष्ट्रीय भूमियों का अतिक्रमण कर अपनी सत्ता स्थापित की है। इसी तरह हमारा राष्ट्र-भाव भी राष्ट्रीय सीमाओं का उल्लंघन कर जहाँ मूल मानव-भाव से हाथ मिलाता है वहीं वह अंतर्राष्ट्रीय या अखिल-मानवीय बनकर सार्थकता प्राप्त करता है।

यह स्पष्ट है कि अभी हम राष्ट्रबोध को स्पष्ट नहीं कर सके हैं। राष्ट्रीय बोध का जन्म पश्चिम में हुआ और अभी तीन शताब्दियों से अधिक समय नहीं बीता है। इस बीच में पश्चिम की साम्राज्यवादिता और पंजोवादिता ने उसे पूर्व और पश्चिम सब कहीं लांक्षित भी कर दिया है। उसे मानव की विस्तृष्णा, अहंकार-प्रवृत्ति और हिंसा-भावना का प्रसार मान लिया गया है। अधिकांश जन उससे संत्रस्त और आशंकित हैं। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की कल्पना धर्म और राष्ट्र को प्रतिद्वन्दी और विरोधी मानव-चेतनाओं के रूप में रखकर इस त्राम और आशंका में भी वृद्धि कर रही है। सच तो यह है कि राष्ट्र की भावना धर्म की स्थानापन्न नहीं बन सकी है और मानव की पूर्व अर्जना का बहुत कुछ उससे बाहर ही रह गया है। हमने अपनी संस्कृति की कल्पना में धर्म को गौण स्थान दिया है और राष्ट्र की कल्पना से धर्म और अध्यात्म को बहिष्कृत कर दिया है। इसीलिए हम क्षेत्रीय भौतिक स्वार्थों और राजनीतिक सुविधाओं के भीतर से ही राष्ट्र को देखते हैं फलस्वरूप हमारी राष्ट्रीयता धर्म, मानववाद, अंतर्राष्ट्रीयता और मूलभूत मानव-संस्कारों

तथा मनुष्य की आत्मिक उपलब्धियों को चरितार्थ करने में समर्थ नहीं हैं। वह निम्न स्तर की खण्ड चेतना रह गई है। निश्चय ही इस स्थिति से समझौता करना मानव के ऐतिहासिक विकास की अवमानना है। हमारी राष्ट्रीयता को पूर्वोक्त संस्कारों और मनःचेतनाओं की संहति बनकर आज तक उपलब्ध सभी मानवीय इकाइयों से बड़ा और अधिक सार्थक होना होगा। तभी हम उससे आश्वस्त होकर उसके प्रति आस्थाप्राण बन सकेंगे। बीसवीं शताब्दी में राजनीतिक तल पर अफ्रीका और एशिया में अनेकानेक राष्ट्रीय इकाइयां उभर कर आ रही हैं और मानव-चेतना इन छोटी-छोटी इकाइयों के पार मानव-मन की मूलभूत एकता को स्पष्ट रूप से देखने लगी है। फलतः भविष्यत् युगों में राष्ट्रीयता मानव-बोध को जोड़ने वाली इकाई ही बनकर रहेगी, वह मानववाद की वर्णमाला बनकर सार्थकता प्राप्त कर सकेगी। उसमें अखण्ड मनुष्य की आभ्यंतरिक और प्राकृतिक उपलब्धियों का अशेष दान देश-काल की योग्यता और आवश्यकता के अनुसार क्षेत्रीय इकाइयों अथवा राष्ट्रों के पात्र में ढलता रहेगा। अभी हम इस प्रक्रिया के पहले चरण से ही परिचित हैं।

2

इस संदर्भ में राष्ट्रीय साहित्य क्या है? सच तो यह है कि राष्ट्रीय साहित्य के रूप में साहित्य की अनेक कोटियां सामने आई हैं जैसे देशभक्ति का साहित्य, समाज-सुधार का साहित्य, सांस्कृतिक अथवा पारंपरिक मूल्यनिष्ठ साहित्य, अतीतगर्भी साहित्य। क्या राष्ट्रीय साहित्य इनमें से कोई है, — या ये सभी राष्ट्रीय साहित्य की इकाइयां हैं? अथवा राष्ट्रीय साहित्य इनकी संहति है, या वह इनसे स्वतंत्र कोई इनसे बड़ी इकाई है ? क्या धार्मिक साहित्य को हम राष्ट्रीय साहित्य कह सकते हैं क्योंकि धर्म राष्ट्रीय मानस की सबसे बड़ी और अंतरंगी इकाई है? हिन्दी साहित्य को ही लें तो ये सारे प्रश्न सुलझते नहीं दिखलाई देते। चारण काव्य (रासो-परंपरा), भूषण के काव्य अथवा देशप्रेम संबंधी आधुनिक खड़ी बोली काव्य को हम राष्ट्रीय काव्य कहें तो प्रश्न यह होता है कि मध्ययुग का धार्मिक या आध्यात्मिक साहित्य और भी गहरे अर्थों में राष्ट्रीय क्यों नहीं है? फिर रीतिकाल की शृंगारिक प्रवृत्तियाँ मूलतः मानवीय होती हुई भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए भारतीय नर नारी की मनोभूमियों और सौन्दर्यदृष्टि पर आश्रित हैं। इस साहित्य को हम अ-राष्ट्रीय कैसे कहेंगे? फिर संपूर्ण हिन्दी साहित्य को ही राष्ट्रीय साहित्य कहने से हमें कौन रोक सकता है और इस तरह विभिन्न भाषा-परंपराओं का साहित्य राष्ट्रीय या उपराष्ट्रीय साहित्य ही सिद्ध होता है। इस प्रकार 'राष्ट्रीय' शब्द का अर्थप्रसार अपनी व्यापकता में इतना कुछ सिमेट लेता है कि शेष कुछ भी नहीं रहता। शब्द अर्थवान् हैं, उनकी सार्थकता जब समाप्त होने लगे तो हमें सीमाएं बांधनी ही होंगी।

राष्ट्रीय चेतना के प्रमुख अंग हैं परम्पराएँ, आकांक्षाएँ और आदर्श। राष्ट्रीय चेतना में इनका इन्द्रजाल बुना रहता है और जाने-अनजाने इनकी एक संहति ''राष्ट्रीय मन'' में जन्म ले लेती है। ''राष्ट्रीय चरित्र'' इसी संहति की कर्मणा अभिव्यक्ति है। वस्तुतः राष्ट्रीय चारित्र्य

निराकार राष्ट्रीय मन का ही साकार रूप है। इस चरित्र या मन का नैतिक पहलू भी हो सकता है और आध्यात्मिक पहलू भी संभव है। वाल्मीकि रामायण और महाभारत में भारतीय राष्ट्रीय चेतना के नैतिक (और चारित्रिक भी) पक्ष का उद्‌घाटन अधिक हुआ है और मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में उसकी आध्यात्मिकता की भी अभिव्यक्ति हुई है यद्यपि 'रामचरितमानस' में राम-कथा के माध्यम से राष्ट्रीय चरित्र की परिष्कृति का प्रयत्न भी स्पष्ट है। इस प्रकार उच्चतम राष्ट्रीय चेतना की भूमि पर ये काव्य राष्ट्रीय हैं। पर्याय बदलकर इन्हें भारतीय संस्कृति की प्रतिनिधि अभिव्यक्तियाँ भी कहा जा सकता है । राष्ट्रीय चेतना जिस एकता, स्वतंत्रता, व्यक्तिमत्ता और गौरव गरिमा के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहती है उसकी सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति नैतिक (चारित्रिक ?) और आध्यात्मिक भूमियों पर इन दो कोटि के राष्ट्रीय काव्यों में हुई है। इस भूमि से नीचे उतर कर प्रेमचंद का साहित्य आता है और राष्ट्रीय स्वातंत्र्य का शंखघोष और निर्माणोन्मुखी राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यंजना है। उसकी आध्यात्मिकता और नैतिकता व्यक्तिगत कोटि की होते हुए भी राष्ट्रीय आध्यात्मिकता और राष्ट्रीय चारित्र्य की प्रतीक है। वह गद्य में है, अतः यहाँ वह राष्ट्रीय चेतना सम्पन्न साहित्य के उदाहरण के रूप में ही लिया गया है। तीसरी कोटि का काव्य राष्ट्रीय एक्य के लिए प्रबुद्ध काव्य है जिसमें राजनीतिक, अर्थशास्त्रिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक एकता, सहकारिता एवं स्वच्छंदता का संदेश सन्निहित रहता है। भारतेन्दु के बलियावाले व्याख्यान में सुधारवादी स्वर प्रमुख होने पर भी इस कोटि के काव्य के प्रति जागरूकता प्रगट हुई है और द्विवेदी युग में इस कोटि का काव्य प्रवर मात्रा में सामने आया है। मैथिलीशरण गुप्त की राष्ट्रीय कविता में इसी स्तर की राष्ट्रवादिता मिलेगी। इन आयामों के भीतर ही हम राष्ट्रीय काव्य की तारतम्यता की कल्पना कर सकते हैं। सुधारवाद, देशभक्ति, सांस्कृतिकता और अतीतत्व तीसरी कोटि की व्यावहारिक राष्ट्रीय चेतना के ही अंग बन सकते हैं। अतः राष्ट्रीय काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार होगा :

1. राष्ट्रीय आध्यात्मिकता का काव्य
2. राष्ट्रीय नैतिक चेतना और चारित्र्य का काव्य
3. राष्ट्रीय स्वातंत्र्य का काव्य
    - (क) देशभक्ति का काव्य
    - (ख) राष्ट्रीय मनःसंगठन का काव्य
    - (ग) निर्माणोन्मुख राष्ट्रीय चेतना का काव्य
4. राष्ट्रीय एकता और संघबद्धता का काव्य
    - (क) सुधारवादी काव्य
    - (ख) अतीतधर्मी काव्य
    - (ग) सांस्कृतिक काव्य

(घ) राष्ट्रीय गौरव का काव्य

यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय चेतना तरल, सूक्ष्म और दुर्ग्राह्य वस्तु है और विभिन्न स्तरों एवं स्वरूपों में उसकी अभिव्यक्ति संभव है। उसके कुछ स्वर राष्ट्रीय संकटकाल में ही मुखर हो पाते हैं और राष्ट्र के कुछ विशेष वर्गों में यह चेतना अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक प्राणवान भी हो सकती है। जिन वर्गों में राष्ट्रीय चेतना प्रसुप्त जान पड़ती है वे भी अधिक जागरूक वर्गों की चेतना से प्रभावित हो सकते है क्योंकि राष्ट्र के सूत्र बहुरंगी और सूक्ष्म रहते हैं। कभी-कभी कोई एक वर्ग राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में राष्ट्रीय चेतना को अपनी बपौती मान कर चलने का प्रयत्न भी कर सकता है। चारण-काव्य (रासो-परंपरा) और भूषण के काव्य में इसी प्रकार का वर्गीय राष्ट्रीय चेतना मिलेगी। चारण-काव्य की राष्ट्रीय चेतना प्रजातीय है, भूषण के काव्य की हिन्दू-जातीय। यह स्पष्ट है कि हमारी राष्ट्रीय चेतना का अखिल भारतीय और सर्वसंग्रही स्वरूप आधुनिक युग की राजनीतिक-राष्ट्रीयता मे ही अभिव्यक्ति पा सकता है जिसके विकास का इतिहास राममोहनराय से गाँधी-नेहरू तक बराबर चलता है। इसी तरह हमारे नेता भावात्मक अंतर्योजन (इमोशनल इन्टीग्रेशन) का नारा उठा रहे हैं। यह स्पष्ट है कि आधुनिक युग का राष्ट्रीय काव्य व्यावहारिक और राजनीतिक-सामाजिक आयामों से ऊपर उठकर राष्ट्रीय गौरव से सम्पन्न होने जा रहा है। पंत के पिछले बारह वर्षों के काव्य में यह प्रक्रिया स्पष्ट है। कालांतर में यह राष्ट्रीय गौरव राष्ट्रीय नीति (चारित्र्य), अध्यात्म और भावात्मक आंतरिकता से सम्पन्न होगा। तब हम खड़ी बोली का उत्कृष्टतम कोटि का राष्ट्रीय साहित्य पा सकेंगे जो राष्ट्र-पुरुष के व्यक्तित्व की पूर्णतम अभिव्यक्ति होगा। ऐसा राष्ट्रीय साहित्य ही रामायण-महाभारत और तुलसी के 'मानस' की समकक्षता प्राप्त कर सकता है। उसकी अभिव्यक्ति महाकाव्यात्मक हो या क्लासिक के रूप में हो या बृहद् उपन्यास (एपिक नावेल) के रूप में, उसमें राष्ट्रीय स्पन्दन के बहुस्तरीय, विविध परंपरित तथा भविष्यधर्मी बोध पर्याप्त रहेंगे। हमारी सारी साहित्यिक साधना इसी राष्ट्रीय काव्य और साहित्य की ओर अग्रसर है।

3

परन्तु इस 'राष्ट्रीय' स्वरूप की उपलब्धि हमारा काव्य या साहित्य किस प्रकार करेगा? क्या परंपरा-साधन के द्वारा? वह परंपरा क्या समग्र परंपरा होगी या किसी (अथवा किन्हीं) विशिष्ट युगों की उपलब्धि? उस परम्परा का अभिव्यंजनात्मक स्वरूप क्या होगा? क्या वह केवल उद्धरणात्मक होगी, जैसा इलियट के काव्य में है, या उसका कोई भिन्न रूप होगा? परंपरा में से हम कितना ग्रहण करें, यह भी ज्ञातव्य है। मनोविज्ञान में परंपरित मानस (ट्रेडीशनल माइन्ड), युगमानस और व्यक्तिमानस के रूप में मन के तीन स्तरों की कल्पना की गई है जिन्हें चेतनीय एवं अवचेतनीय भूमियों पर आत्मसात किया जा सकता है। 'राष्ट्रीय' बनने के लिए क्या केवल परंपरित मानस के चेतन-बोध से काम चल जायेगा या उसके लिए हमें अवचेतन को भी टटोलना

होगा? क्या युग-मानस में परंपरा-बोध अंशतः या सांस्कृतिक बोध अनिवार्य रूप से उपस्थित नहीं रहता? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं। जो 'राष्ट्रीय'—साहित्य के स्वरूप और उसके अभिव्यंजनात्मक पक्ष से अनन्य रूप से संबंधित हैं। इन प्रश्नों में गहरा उतरे बिना हम राष्ट्रीय साहित्य की प्रकृति को स्थापित नहीं कर सकेंगे। इतिहास-परम्परा का महत्त्वपूर्ण अंग होने के कारण रीतिकाव्य अ-राष्ट्रीय नहीं हो सकता। उसकी प्रेम-भावना अ-राष्ट्रीय और उदात्त न हो परन्तु भारतीय प्रेमादर्श और भारतीय नारी की मनोभावना से उसका गहरा संबंध है। यह कहा जा सकता है कि उसमें हमारी राष्ट्रीय परम्परा का स्वस्थ स्वरूप उद्घटित नहीं है, वह ह्रासमूलक ही कहा जा सकता है। यह तर्कवाद हमें रीतिकाव्य से छुटकारा तो दे सकता है परन्तु आधुनिक काव्य में जब वह अनायास ही प्रतिध्वनित हो उठता है तो हम चमत्कृत हो जाते हैं। स्पष्ट है कि वह उतना अ-राष्ट्रीय नहीं है जितना हमने समझ रखा है। जिन राष्ट्रों के पास संस्कृति और साहित्य की कोई लंबी परम्परा नहीं है उनके लिए ग्रहण-अग्रहण का कोई प्रश्न ही नहीं है, परन्तु भारत जैसे देश में सांस्कृतिक क्षेत्र की दीर्घकालीन और बहुसूत्री उपलब्धियाँ कैसे नवीन काव्य या साहित्य में आत्मसात हों, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जे.पी. होडिन (डिलेमा आव बीइंग माडर्न) ने अपने एक निबंध में परम्परा के एक नए स्वरूप के संबंध में निर्देश किया है। उनका कहना है कि परंपरा शृँखलित या क्रमविकासात्मक ही क्यों कल्पित की जाये? हम परम्परा के पहले छोर से कलाकार तक लंबी यात्रा क्यों करें? स्वयं कलाकार क्यों अपनी रूचि के अनुसार समृद्ध परम्परा में से कुछ नहीं छाँट ले और कलाकार से पीछे की ओर क्यों नहीं जायें? वास्तव में कलाकार के माध्यम से ही अतीत पल्लवित होगा और परम्परा उसे गर्भित करके ही सार्थक बनेगी। इसलिए परंपरा को सूक्ष्म विकास मान और अंतरंगी मान कर चलने में ही सुविधा रहेगी। स्पष्ट ही होडिन का यह दृष्टिकोण इलियट के परंपरा-संबंधी दृष्टिकोण से भिन्न है और कलाकृति में उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप भी भिन्न होगा, परन्तु दोनों दृष्टिकोणों में परम्परा के सचेतन ग्रहण का समान रूप से आग्रह है जो अवचेतनीय उपलब्धियों पर ध्यान नहीं देता। सामूहिक अवचेतन या जातिगत अवचेतन में भी अतीत का अवशिष्ट पड़ा रह सकता है। क्या उसको पहचानना और कृति में उभारना कवि या साहित्यकार का दायित्व नहीं है? सच तो यह है कि परंपरा का वही स्वरूप स्थायी और वांछनीय है जो सूक्ष्म, अंतरंगीय और अवचेतनीय बन कर जातीय मानस का अविच्छिन्न अंग हो गया है। इसकी साधना कवि-मानस को प्रौढ़ता प्रदान करेगी। कवि-शिक्षा में इस प्रकार की योजना बराबर रही है और कालिदास तथा तुलसीदास में परंपरा के सूक्ष्म और अवचेतनीय ग्रहण का उदाहरण हमारे सामने है। यह अवश्य है कि अपनी-अपनी अभिरूचि से प्रभावित हो भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि ये दो महाकवि विभिन्न परंपराओं अथवा सांस्कृतिक बोधों तक जाते हैं और उनके साहित्य में 'राष्ट्रीय' के विभिन्न 'खिल' (पूरक) और समर्थ रूप अभिव्यंजित है। उन्होंने परम्परा को केवल अपनी प्रवृत्तियों के माध्यम से ही नहीं पहचाना है,

युगधर्म को परिष्कृत, बहुबोधी और महार्घ बनाने के लिए भी उन्होंने समानधर्मी चेतना की खोज की है। इस प्रकार हमारा सांस्कृतिक, अथच राष्ट्रीय बोध इन (अथवा इन जैसे) कवियों-कलाकारों में निरन्तर अधिक परिष्कृत, वर्द्धमान और सूक्ष्म होता गया है। आज भी 'राष्ट्रीय' चेतना में परम्परा (या परंपराओं) का यह योगायोग सुरक्षित है और वह कवि-कलाकार के द्वारा आत्मसात होकर और भी ऊँची उड़ान के प्रति आकांक्षावान है। सत्य यह है कि राष्ट्रीय स्तर पर हमारा परम्परा बोध ग्रहण शील उपकरणों को लेकर निरन्तर आगे बढ़ता रहता है और इस प्रकार राष्ट्रीय मन अनेक युगों की सांस्कृतिक चेतनाओं और असंख्य कवियों-कलाकारों की अंतःसंहति बन कर नित्यनवीन समृद्धि को प्राप्त करता चलता है। यह ठीक है कि कवि-शिक्षा के द्वारा हमें अतीत या परंपरा को कवि के मन तक पहुँचा सकते हैं परन्तु कवि-मानस अपनी अभिरूचि, युगबोध तथा अनिर्दिष्ट प्रेरणाओं के द्वारा उसमें से कितना किस रूप में ग्रहण करेगा, यह कहना कठिन है। फलस्वरूप, साहित्य या काव्य के 'राष्ट्रीय' स्वरूप के संबंध में हम कोई निश्चित योजना नहीं बना सकेंगे, परन्तु चाहें भी तो इस 'राष्ट्रीय' बोध से हम अपने कर्तृत्व को मुक्त नहीं कर सकेंगे। हमारी शैवागमी परंपरा शताब्दियों तक अलिखित पड़ी रह कर अभी कल 'प्रसाद' के द्वारा 'कामायनी' में आत्मसात हो सकी है। कौन कह सकता है कि ऐसी अनेकानेक परंपराएँ या राष्ट्रीय अथवा सांस्कृतिक उपलब्धियाँ जातीय उपचेतन में अभी अजानी-अबूझी नहीं पड़ी हैं और किसी समर्थ कवि या कलाकार की बाट जोहती हैं जो उन्हें हमारी नवीन सांस्कृतिक उपलब्धि का अंग बना सकेगा। इसीलिए यह आवश्यक है कि युगधर्मी साहित्य के साथ हम 'राष्ट्रीय' साहित्य के प्रति भी निरंतर जागरूक रहें क्योंकि वही युगबोध में सांस्कृतिक धरातल देकर उसका संबंध राष्ट्रीय परम्परा से जोड़ सकता है। यह गर्व की बात है कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा आध्यात्मिक, नैतिक और मानवीय (लौकिक) सभी भूमियों पर अत्यन्त समृद्ध है और हमारा साहित्य इन विभिन्न संपन्न भूमियों के अशेष दान से निरन्तर पुष्ट होता रहा है। जानने योग्य बात यह है कि हम केवल देशभक्ति के काव्य या राजनीतिक काव्य को ही राष्ट्रीय साहित्य का सर्वोच्च उपलब्धि नहीं मान लें, उसके मानवीय, नैतिक और आध्यात्मिक स्कंधों को भी उभारें। इसके लिए हमें अपने व्यक्तित्व को परम्परा के प्रति संवेदनशील और सर्वग्राही बनाना होगा। कालिदास और तुलसीदास जिस राष्ट्रधर्मीयता के प्रतिनिधि हो सकते हैं उसी उत्कृष्ट कोटि की सांस्कृतिक जागरूकता संपन्न राष्ट्रीयता को हमें अपने काव्य और साहित्य में जगाना है। हमारा 'राष्ट्रीय' काव्य भिन्न-स्वरूपी होकर भी इन्हीं समर्थ कवियों की रचनाओं से समकक्षता का दावेदार होगा। इस दिशा में बढ़ते हुए अभी हमें अनेक मंजिलें पार करनी है। तभी हम युगधर्म के भीतर से नया राष्ट्रीय महाकाव्य दे सकेंगे और हमारा उपन्यास प्रेमचंद के साहित्य की भांति ही भारतीय संस्कृति, चरित्र और धर्मबोध का प्रतिमान बनकर सार्थक होगा। उसमें राष्ट्रीय धारणा, मन, चरित्र और लोकेषणा के साथ धर्मबोध और अध्यात्म का भी उद्‌घाटन

होगा। संक्षेप में, वह राष्ट्रीय व्यक्तित्व को अपनी परिपूर्णता में समेट लेगा और उसका सांस्कृतिक बोध तात्कालिक न होकर चिरन्तन रहेगा। यह सौभाग्य की बात है कि भारतीय संस्कृति के प्रभातोदय में ही हमें महाभारत और रामायण के रूप में ऐसे दो महत् राष्ट्रीय महाकाव्य मिल गये हैं जो इस क्षेत्र में सदैव हमारे मानदण्ड और आदर्श बने रहेंगे। अपने राष्ट्रीय बोध को समुन्नत, परिष्कृत और व्यापक बनाने और उसे अंतर्दृष्टि से संपन्न करने के लिए इन रचनाओं की ओर हमें बार-बार लौटना होगा और यह समझना होगा कि कालिदास और तुलसीदास की रचनाएँ इन मानदण्डों से कितनी निकट और किन धरातलों पर भिन्न हैं। यही नहीं, नए राष्ट्र-धर्म के आविष्कार के साथ हम राष्ट्रीय काव्य और साहित्य की नई भूमियाँ भी विकसित कर सकेंगे। हमारा राष्ट्रीय साहित्य हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की अनेक स्तरीय, गहन, तीव्र और उदात्त अभिव्यक्ति होकर ही सार्थकता प्राप्त कर सकेगा। स्वाधीन भारत के लिए ऐसे राष्ट्रीय साहित्य की आवश्यकता नितांत बनी रहेगी क्योंकि वही उसे आत्मिक भूमि पर चरितार्थ कर सकेगा। नया युग नया पृथ्वी-सूक्त मांगता है।

साहित्य और सर्जना, 1988 से साभार

संदर्भ -

1. The idea of a people is the idea of a Corporation. It is wholly artificial, like all other fictions, by common agreement....(the) particular nature of that agreement....is colleased from the form into which the particular Society has been cast.... When men.... break up the agreement which gives to corporate form and capacity to a state, they are no longer are people....they are a number of loose individuals....(Quoted in Nationalised and Social Communication: Kaul W. Dentsch, p. 7).

2. The phrase “the people” is other nonsense. It is not a political term....A “people is a species; a civilised community is a nation. Now, a nation is a work of art & a work of time. A nation is gradually created by a variety of influences, the influence of original organisation, manners, extraordinary accidents and incidents in their history and the individual character of their illust citizens. These influences create the nation. These form the national mind. (Ibid., p. 7).

3. “Men, inhabiting a definite territory, who.... possess a common stock of thoughts and feelings acquired....during the course of a common history... (Ibid, p. 8).

4. Ibid., p. 8.

5. A nation is a historically evolved, stable community of language, territory, economic life, and psychology make-up manifeshed in a community of culture....(Ibid, p. 8).

6. Quoted in R. M. Mac Iwar: The Modern State, p. 123.

7. Ibid., A: Cotten-National Self Determination, pp. 52-53.

8. F. Mernecke Weltbuergertum and National state, p. 2.

9. Dong Suigi Sturzo in Nationalism and Internationalism, pp. 13,16-17.

10. Ralph Linton, Ed. The Science of Man in the World of Cnsis. pp. 84-86.

11. Fredrick Hertz: Nationality in History & Politics, pp. 13-14.

रामकथा में प्रतिबिम्बित भारतीय संस्कृति के आदर्शमय जीवन-मूल्य

- नागेश दुबे

रामकथा का वर्णन सर्वप्रथम वाल्मीकि ने अपनी रामायण में किया है। 'रामायण' आदर्श जीवन मूल्यों का महाकाव्य है। रामचन्द्र जी के आदर्श चरित्र को कालान्तर में देश व विश्व की अन्य भाषाओं में राम कथानक के रूप में रचित किया गया। रामकथा, भारतीय संस्कृति का आधार है। रामकथा का वर्णन प्रत्येक भाषा के साहित्यकारों ने किया है। भारतीय संस्कृति के प्रमुख अंग हमारे रीति-रिवाज, तीज-त्यौहार राम मय है। रामकथा में आदर्शमय सौन्दर्य है। रामकथा में सभी रचनाकार, राम के प्रति आस्था, श्रद्धा व भक्ति रखते हैं।

'मर्यादा' श्रीराम की कथा का केन्द्रीय भाव है। श्री राम का मर्यादित रूप भारतीय जनमानस को सदैव, प्रभावित करता रहा है। रामकथा में समग्र भारतीय जीवन की परम्परा, संस्कृति, पौराणिकता एवं ऐतिहासिकता तो है ही, मानव मात्र की शाश्वतता भी, रामकथा ही है।

वाल्मीकिकृत रामायण एक राष्ट्रीय महाकाव्य स्वीकार किया गया है। इससे प्रेरित होकर अनेक महाकाव्य, काव्य, नाटक, पुराण आदि लिखे गये। रामकथा के माध्यम से राम एक ऐसी संस्कृति के प्रतीक बन गये जिनके माध्यम से प्रत्येक युग में समाज ने अपनी प्रत्येक समस्याओं का समाधान खोजा।

वाल्मीकिकृत रामायण में बतलाया गया है कि भगवान विष्णु ने श्रीरामचन्द्र अवतार में अवतरित होकर अपने प्रत्येक व्यवहार में मर्यादित आदर्शमय जीवन प्रणाली से मानव जाति को यह दिखलाया है कि मनुष्य मात्र को किस प्रकार से संसार के दुखों का सामना करते हुए धर्म का पालन करना चाहिए। रामायण के अनुसार कर्म, भक्ति और ज्ञान इन तीनों कसौटियों पर भगवान श्रीराम का जीवन हम सभी के लिए आदर्शमयी शिक्षा देता है। रामायण में वर्णित रामकथा में भगवान श्रीराम ने अपने गुरूजन, माता, विमाता, पिता, भ्रातगण, मित्र, सहायक, सेवक, सर्वसाधारण प्रजा आदि सभी सम्बन्धियों के साथ यहाँ तक कि अपने शत्रुओं के साथ भी आदर्श व्यवहार किया, जो मानव मात्र व मानव संस्कृति के लिए प्रेरणा स्त्रोत है।

श्रीरामचन्द्र जी अपने माता, पिता, गुरू आदि खास सम्बन्धियों के अतिरिक्त अरण्यवासी गुहवासी तथा पशुरूप में आये हनुमान आदि वानरगण और राक्षस जाति के विभीषण आदि को उनके प्रेम व भक्ति के वश में होकर उन्हें अपनाया व उनकी सहायता की।

मानव संस्कृति की रक्षा व कल्याण करने की दृष्टि से आचार-व्यवहार, युद्धवीरता, धार्मिक शासन (रामराज्य) आदि के पश्चात् जब हम उपासना और ज्ञान की दृष्टि से देखते हैं तो श्रीरामकथा की महिमा के रामायण व पुराणों में ही नहीं वर्णित है वरन् सीतोपनिषद्, रामरहस्योपनिषद, रामतापिन्युपनिषद, मुक्तोपनिषद् आदि में भी वर्णित है जिनमें मानव संस्कृति के प्रति श्रीरामचन्द्र जी का योगदान वर्णित है।

राम, मानव-संस्कृति के उत्थान के प्रतीक हैं। राम कथा का वर्णन उपर्युक्त पुराणों व उपनिषद्रों में तो हुआ ही है। भगवान शंकर भी सर्वदा राम नाम का जाप करते रहते हैं। वे माता पार्वती से कहते हैं कि—

''रामरामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्त्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने।। (रामरक्षा स्त्रोत, पद संख्या-38)

रामायण का जितना अधिक लोकपरिग्रह है दूसरे किसी का नहीं।

रामायण केवल इतिहासपरक ग्रंथ ही नहीं है वरन् यह महाकाव्य भी है। इसे आदि काव्य होने का गौरव प्राप्त है। रामायण एक महान सांस्कृतिक धर्मग्रन्थ है। रामायण में मानव जीवन के विविध सांस्कृतिक पक्ष आदर्शरूप में वर्णित हैं। रामायण, मानव संस्कृति को वर्णित करने वाला मानव धर्मशास्त्र है।

रामकथा एक निष्प्राण कथा की भांति ही नहीं वरन् एक नूतन सभ्यता, नवीन भारत के पुनर्निर्माण के लिए, एक सन्देश देने वाली मानव जीवन व मानव संस्कृति के पथ को प्रदर्शित करने वाली कथा है। इसका (रामायण) संदेश है कि तपसः विजयम, तपसः विजयम् अर्थात तपस्या से विजय प्राप्त करो। भगवान राम अपनी प्यारी अयोध्या, अपने प्यारे घर विजयी होकर लौटते हैं। इसके पूर्व उन्होंने वर्षों तपोवन में व्यतीत किये। उन्होंने तपोवन जीवन व्यतीत किया और विजयी हुए। केवल तपस्या से ओतप्रोत क्रियात्मक शक्ति में ही भारत ही नहीं वरन् समस्त संसार के नवयुग की आशाएँ निहित हैं। हमें, रामकथा से प्रेरणा मिलती है कि अपने स्वर्णिम जीवन से लक्ष्य को, मानव संस्कृति के उत्थान को हम अपनी तपस्या की आंतरिक भावना, अपने आदर्श की शक्ति से प्राप्त कर सकते हैं।

रामायण तथा राम कथा को वर्णित करने वाले अन्य ग्रन्थ, भारतीय संस्कृति की अतुलनीय सम्पति हैं। रामकथा मानव मात्र के उच्चतम आदर्श स्थापित करने वाले मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम के ऊँचे आदर्श का इतिहास है। रामायण व रामचरित मानस को मात्र काव्य ग्रन्थ कहना उनका अपमान करना है। उसमें तो भक्ति रस का प्रवाह बहता है जो मानव जीवन तथा भारतीय संस्कृति को जीवन्त कर देता है।

रामायण, रामचरित मानस व अन्य रामकथानक ग्रंथों में हिन्दू गृहस्थ जीवन का आदर्श बतलाया गया है। रामकथा के आदि ग्रन्थ रामायण में महाकवि वाल्मीकि जी ने भारतीय संस्कृति के उत्थान से सम्बन्धित मानव मात्र के लिए अनेक गुणों का वर्णन किया है, जिनमें मानवीय आदर्श व भारतीय संस्कृति निहित है, जैसे–

1. पिता की आज्ञा का पालन
2. सत्यशीलता
3. एक पत्नीव्रत
4. आश्रितों की रक्षा करना
5. प्रतिज्ञा की पूर्ति
6. वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा के अनुसार आचरण करना
7. वृद्धों, देवता तथा गुरूजनों की सेवा करना
8. मधुर भाषण
9. अतुलनीय पतिव्रत
10. बड़े भाई के रूप में सुख एवं दुख का अनुभव
11. न्याय कृत मार्ग का अनुसरण करना
12. प्रत्युपन्नमतित्व
13. प्रभु भक्ति आदि का समावेश, मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र में रहा।

रामकथा में किसी भी स्थल पर श्रीरामचन्द्र जी में आत्म प्रशंसा लेशमात्र भी दिखलायी नहीं देती।

मानव-जीवन को सार्थक बनाने के लिए अपनाये जाने वाले उपायों को सुगमता के साथ जानने के लिए, रामायण ही सर्वोत्तम ग्रंथ है। इसी एक कारण से ही भारतीय विद्वानों ने ही नहीं वरन् इंग्लैण्ड, अमेरिका, जर्मनी आदि देशों के समाज शास्त्रियों तथा दार्शनिकों ने भी मुक्त कण्ठ से रामायण व उसमें वर्णित रामकथा की प्रशंसा की है।

रामायण व रामचरित्र मानस में वर्णित श्रीरामचन्द्र जी का चरित्र अत्यंत सरल, नीति बोधक और प्रत्येक दृष्टि से मर्यादा को लिये हुए है। मानव जीवन व मानव संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति को पुत्र, बन्धु, मित्र, शत्रु, पति आदि सम्बन्धों में व्यवहार करना पड़ता है तथा कुछ को राज्यसत्ता भी संभालना पड़ती है। उत्तम पुत्र, उत्तम मित्र, उत्तम शत्रु, उत्तम पति और उत्तम राजा आदि सभी दृष्टियों से भगवान श्रीरामचन्द्र जी का चरित्र मर्यादा स्वरूप है। आज भी उनका चरित्र हजारों वर्षों बाद भी मानव मात्र के लिए आदर्शमय होकर हमारे आचरणों पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य डाल रहा है।

श्रीराम, उत्तम पुत्र थे उन्होंने पिता की आज्ञा का पालन करना सर्वोत्तम धर्म माना क्योंकि पिता की आज्ञा मानना पुत्र का धर्म है। उत्तम पुत्र को पिता की कठोर आज्ञा का भी

पालन करना चाहिए। कठोर आज्ञा का भी उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यही हमारे समाज की मर्यादा है, क्योंकि यह शरीर पिता से ही प्राप्त हुआ है। अतः पिता की आज्ञा का पालन करना पुत्र का परम कर्त्तव्य है। परन्तु आज के समय में तो पुत्र पिता का धन लेना चाहता है, पिता से धन त्याग की आज्ञा भी नहीं लेना चाहिए वे धन-जायजाद के बंटवारे के लिए अदालत में दावा दायर करने तैयार हो जाते हैं।

भरत और राम में उत्तम बन्धु का आचरण देखने को मिलता है। सुग्रीव व विभीषण के सम्बन्ध में श्रीराम ने उत्तम मित्र का आदर्श आचरण दिखलाया। स्वार्थ छोड़कर मित्र का कार्य करना, उसे प्रतिज्ञा पूर्वक निवार्हन, यही मित्र का लक्षण होना चाहिए।

रावण अंत तक प्रभु श्रीराम से शत्रु बनकर लड़ता रहा परन्तु जब वह युद्ध में मारा गया तब प्रभु श्रीराम ने विभीषण से कहा कि यह शत्रुता मृत्यु पूर्व तक थी, मृत्यु के पश्चात् शत्रुता समाप्त हो गयी। उसका अंतिम संस्कार यथोचित सम्मान के साथ करो।

उत्तम पति के रूप में मर्यादित आचरण वाले हैं प्रभु श्रीराम। वे राजा होकर भी आजीवन एक पत्निव्रतधारी रहे। राम की पत्नी माता सीता का चरित्र भी आदर्शमय स्वरूप में वर्णित है। इसीलिए ही हिन्दु समाज में स्त्रियों का आचरण अन्य समाजों की अपेक्षा अधिक प्रशंसनीय है। उन पर माता सीता के आदर्श पत्नि के चरित्र का प्रभाव है।

उत्तम राजा के आदर्श को स्थापित करने के लिए प्रजा के द्वारा सीता जी की पवित्रता पर प्रश्न उत्पन्न होने पर पति धर्म की अपेक्षा राजधर्म को प्रमुखता देते हुये उत्तम राजा के आदर्श को स्थापित करते हुये उनका परित्याग किया, परन्तु एक पत्निव्रत का पालन किया। उन्होंने लोकमत को आदर दिया।

आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भ्राता, आदर्श ग्रहणी, आदर्श मित्र, आदर्श सहचर, आदर्श अनुचर, आदर्श मंत्री, आदर्श पुरोहित, आदर्श सेवक और आदर्श पड़ोसी आदि हिन्दु गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित सभी सम्बन्धों को महाकवि वाल्मीकि जी ने रामायण में आदर्शरूप में वर्णित किया हैं। उन्होंने आदर्श हिन्दु गृहस्थ जीवन को वर्णित किया उसका अनुसरण कर हम आज भी गृहस्थ जीवन के आदर्श को अपनाकर आनंदमयी जीवन का आनंद उठा सकते हैं।

महाकवि वाल्मीकि जी के बाद भारत में अनेक बड़े-बड़े महाकवि हुए जिन्होंने रामकथा को आधार मानकर अपने असाधारण कवित्व के द्वारा रामकथा को वर्णित कर समाज व मानव संस्कृति का उत्थान किया। इनमें प्रमुख है– तुलसीदास, राजशेखर-बालरामायण, कालिदास-रघुवंश, भवभूति-उत्तर रामचरित आदि कवियों ने भी रामकथा के आधार पर अपने-अपने ग्रंथों की रचना कर रामकथा को जन-जन तक पहुँचाया।

वाल्मीकि कृत रामायण के पश्चात गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित रामचरितमानस ही एक मात्र ऐसा ग्रन्थ (महाकाव्य) है जो जन-जन के मानस पटल पर छाया हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरितमानस की रचना राममय होकर की है। रामचरित मानस ने पूरे हिन्दु समाज को राममय कर दिया। गोस्वामी जी ने रामचरितमानस के माध्यम से रामभक्ति के साथ-साथ शील, आचार, मर्यादा तथा लोक कल्याण का संदेश प्रदान कर हिन्दु समाज में नव जीवन का संचार किया। उन्होंने मानव जीवन के आदर्शों की स्थापना के लिए रामकथा (रामचरितमानस) के माध्यम से आदर्शमय भारतीय संस्कृति की आधारशिला रखी।

मानव को आदर्शपूर्ण मानव तथा गृहस्थ को आदर्श गृहस्थ बनाने के लिए रामकथा के आदर्श को अपनाये जाने की आवश्यकता है। राम के आदर्श व सीता जी के आदर्श आचरण को अपनाकर प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक गृहस्थ अपने जीवन को पूर्ण कर सकता है।

महाकवि वाल्मीकि जी ने ऐसे ही पूर्व आदर्श मानव स्वरूप में राम के चरित्र को वर्णित किया है। रामायण हमारे भारत वर्ष का प्राचीन इतिहास का पूरक है। इससे हमें राजनीति, वर्णाश्रम व्यवस्था की महत्ता, गृहस्थ धर्म, राजा प्रजा के सम्बन्ध का परिचय मिलता है, इनका आदर्श स्वरूप का पता चलता है। यह एक उत्तम काव्य है जो हमारा मार्गदर्शन करता है। रामकथा की प्रासंगिकता हर काल व हर देश के लिए है।

रामकथाओं के राम, भारतीय संस्कृति के आदर्श हैं। मानवीय जीवन मूल्यों के प्रति राम का व्यक्तित्व विशेष आकर्षण उत्पन्न करता है। राम के आदर्शमय चरित्र ने भारतीय जीवन के सभी पक्षों का आदर्शमय स्वरूप सामने रखा है।

प्रोफेसर
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

संदर्भ -

1. वाल्मीकि कृत-रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)
2. गोस्वामी तुलसीदास कृत - रामचरित मानस, गीताप्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)
3. कल्याण-श्री रामायण अंक, गीताप्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)
4. कल्याण-श्रीरामवचनामृतांक, गीताप्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)
5. भारतीय रामकथा साहित्य का स्वरूप-विकास सम्पादक - प्रो. त्रिभुवन नाथ शुक्ल, म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल (म.प्र.)
6. रामकथा स्त्रोत, गीताप्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)

रामचरितमानस : मेरे अनुभव

- ब्रजरतन जोशी

कविता करकै तुलसी न लसै,
कविता लसी पा तुलसी की कला।

भारतीय साहित्य के इतिहास-गगन में मानस एक सूर्य-ग्रंथ है। तुलसी की शेष रचनाएँ नवग्रह हैं। समूचा भक्ति साहित्य एक अभिनव सौर-मण्डल है। तुलसीकृत मानस ने लोकमंगल से भरकर जनमानस के हृदय में अपना एक निजी स्थान बनाया है। कविवर तुलसीदास हिन्दी के उन विरल कविनायकों में हैं जिनकी काव्यचेतना में धर्म, दर्शन, साहित्य और पुराण की अंतःसलिला का प्रवाह निरंतर प्रवहमान है।

तुलसी का समूचा काव्यसंसार साहित्यिकता से भरा-पूरा है। रामचरितमानस के प्रारंभ में ही वे अपनी कविप्रज्ञा के सूत्र को हमारे सामने रखकर आगे बढ़ते हैं। वे लिखते हैं-

वर्णानामर्थसंघनां रसानां छंदसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ, वंदे वाणीविनायकौ।।

यहाँ वे वाणी के ईश्वर की वंदना कर रहे हैं। इस श्लोक में आया वर्ण और अर्थ का संदर्भ स्वतः ही उन्हें भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में भामह के *शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्* और पश्चिम के कॉलरिज की *बेस्ट वर्ड्स इन बेस्ट आर्डर विथ प्रोफाउंड मैटेनी* परम्परा से जोड़ता है। उनका विनय, उनकी वेदना, उनकी काव्यशक्ति के प्राण हैं। यह उनकी कवियोचित विनयशीलता ही है कि वे लिखते हैं– *कवित विवेक एक नहीं मोरे* पर उनके काव्यसंसार का कोना-कोना विमल विवेक से आलोकित है। वे ऐसे कवि हैं जो अपनी रचना की व्यंजकता के माध्यम से अलौकिक के अलौकिक सत्त्व का क्षरण किए बिना लोक हृदय के आँगन में उतार देते हैं।

रामचरितमानस के पारायण से गुजरते हुए इस प्रश्न से सहज ही सामना होता है कि क्या आज से चार सौ साल पहले लिखे लोक भाषा के काव्य (तुलसी ने अवधी, ब्रजभाषा में लिखा) की आज कोई प्रासंगिकता है? आखिर मानस के मानस में ऐसा क्या है जो आज भी उसे लोक कंठ का हार बनाए हुए हैं?

प्रथमतः तो मानस एक ऐसी काव्यकृति है जो हमें एक साथ कथा, नाट्य और काव्य की न केवल अनुभूति ही देती है बल्कि तृप्ति, तुष्टि और तल्लीनता के ऐसे रसायन हमारे अंदर संचार करती है कि हम आह और वाह से एकसाथ भर उठते हैं।

दूसरे, समकालीन भक्ति साहित्य में शायद ही ऐसी कोई कृति हो जो एक साथ हमारे मन, बुद्धि और आत्मा को प्रेरित और प्रभावित करती है।

तीसरे, परिपूर्णता भारतीय चित्त की चिर आकांक्षा रही है। हमारी परम्परा में इसे यथार्थ सत्य की तरह स्वीकार भी किया गया है। तुलसी ऐसे कविश्रेष्ठ हैं कि जो इस परिपूर्णता की आकांक्षा को अपनी कृति के माध्यम से आनंदित करने व चरम सीमा तक अपने प्रत्येक पाठक को ले जाने में सक्षम रहे हैं। इसलिए वे भारतीय चित्त के सहयात्री हो गए हैं। वासुदेव शरण अग्रवाल ने ठीक ही लक्षित किया है कि यदि भारतीय साहित्य की उपमा आदि त्रिविक्रम विष्णु से दी जाए तो व्यास, कालिदास और तुलसीदास उसके तीन चरण हैं।

मानस की काव्य संरचना में रसग्रहण, बहुवचनीयता और भिन्नताओं का ऐसा संगम है जिसमें हर पाठक सद्यस्नात की अनुभूति से भर उठता है। उनका मानस एक सांस्कृतिक कोश है। इसीलिए नानापुराण निगमागम सम्मत, भी है।

मानस की काव्य संरचना में प्रविष्ट होते ही पहले-पहल हमारा ध्यान इस ओर जाता है कि उनके इस महाकाव्य में कांड है सर्ग नहीं। जबकि सामान्यतः हमारी परम्परा के सभी महाकाव्यों में सर्ग देखने को मिलते हैं। सर्गबद्धो महाकाव्यम् हमारी काव्य परम्परा आप्त वचन है, लक्षण है। जबकि तुलसी रामचरितमानस में लिखते हैं–

एहि मह रुचिर सप्त सोपाना
रघुपति भगति केर पंथाना।

यानी उनके सात काण्ड सात सोपान हैं। ऐसा क्यों? सर्ग नहीं सोपान। तुलसी ने यह काव्यात्मक नवाचार ऐसे ही नहीं किया वरन् यह उनकी कवियोचित सोच और विवेक की साक्षी है। सर्ग का अर्थ होता है सृष्टि और सोपान का अर्थ होता है सीढ़ी। हम भली-भाँति जानते हैं कि सृष्टि लक्ष्यमुक्त हो सकती है, पर सोपान नहीं। फिर जिस देश, काल और वातावरण में वे रच रहे थे वहाँ भटकाव की संभावनाएँ अधिकतम थीं। साथ ही यह उनकी विनम्रता ही थी कि अभिनव सृष्टि की रचना का वहम पाले नहीं थे; सोपान कहने से उनका सीधा तात्पर्य था कि वे चेतना के ऊर्ध्वारोहण की प्रक्रिया, विधि, प्रकार और विविध रूपों को व्याख्यायित एवं विश्लेषित कर रहे थे। प्रत्येक काण्ड इसी की स्पष्ट बानगी है।

काव्यकला ही क्यों हर कला अपनी परम्परा से प्राप्त विचार संवेदना का विशिष्ट, संश्लिष्ट और स्वानुभूत अनुभव होती है। इन्हीं अर्थों में सृजन एक सांस्कृतिक प्रक्रिया भी होता है इसलिए वह विचार या विचारधारा से बँधा नहीं होता और अगर बँधा है तो वह एक श्रेष्ठ अनुभव काव्यानुभव नहीं हो सकता है। कवि का सत्य न तो स्वयं कवि में होता है और न ही

सहृदय में वरन् वह तो उस काव्यानुभव में व्यक्त होता है जिसे वह अपनी संवेदना के माध्यम से अभिव्यंजित कर रहा होता है।

इसीलिए एक कालजयी कृति की भाषा केवल उस कवि की भाषा नहीं होती बल्कि हर देश, काल और संस्कृति में उसकी अर्थछटाएँ तत्कालीन संदर्भों के साथ हमारे अनुभव जगत् का विशिष्ट हिस्सा बनती हैं।

तुलसी इन अर्थों में अपर्सनल नेचर के कवि हैं। इसका संकेत है— जिसमें वे लिखते हैं—

कवित विवेक एक नहीं मोरे।
सत्य कहदुँ लिखि कागद कोरे।।

इसमें अपर्सनल नेचर का ही उदाहरण है। तुलसी यहाँ ठहर नहीं जाते वरन् कहते हैं कि—

सो विचार सुनिहहिं सुमति जिन्ह के बिमल बिबेक

और अपने इसी विमल विवेक के कारण उनका रचनाकार अपने अहं का परित्याग कर कहता है—

कबि न होऊ नहिं वचन प्रवीनू

इन पंक्तियों का लेखक क्या केवल कलाबाजियाँ दिखा रहा है या छलावा कर रहा है? नहीं, वह न तो केवल कलाबाजियाँ दिखा रहा है और न ही कोई छलावा कर रहा है, वरन् यह तो उसके काव्यशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण परिचायक है। प्रत्येक कालजयी कवि या कह लें श्रेष्ठ अनुभूति में, मैं के लिए कोई जगह नहीं होती। हर अच्छा कवि स्वयं का अर्पण करके ही सकल काव्यविद्याहीनू की बात कह सकता है। सामान्य कवि नहीं। यह केवल इस तरह से ही घटित नहीं हो रहा है कि कर्तृवाच्य की जगह कर्मवाच्य को अपनाया जा रहा है बल्कि यह साबित करता है कि काव्य एक अन्य चेतना भी है। इसीलिए वे इस अन्य के लिए अनत यानी अनंत की यात्रा करते हैं, कराते हैं। यह महज संयोग नहीं है कि उनके यहाँ आया उपजहि अनत-अनत छवि लहहि में अनत दो बार आया है। वे अनत से अनंत की यात्रा कराने वाले कवि हैं।

तुलसी की-सी अंर्तपाठीयता उनके समकालीन और हिन्दी काव्य परम्परा में अत्यल्प कवियों के पास है। तुलसी ने काव्य को एक परम्परा, पद्धति और संहिता की तरह देखा है। उन्होंने काव्य का अर्थ उसी में खोजा अन्यत्र नहीं। तुलसी अपने पूर्व कवियों के पाठों और संदर्भों से अपना रिश्ता बनाते हैं और एक पुल की स्मृति हमारे मानस में उपजाते हैं। वे लिखते हैं कि—

अति अपार जे सरित बर, जौ नृप सेतु करांहि।
चढ़ि पिपीलकऊ परम लघु, विनु श्रम पारहि जाहि।।

जैसे राजा के बनाए सेतु का उपयोग चीटियाँ करके अपना रास्ता तय करती हैं उसी तरह मैं भी बिना श्रम के श्रीराम के चरित्र का वर्णन कर अपने पूर्वजों के ऋण से आप तक पहुँचा रहा हूँ। उत्तर आधुनिक पदावली में कहें तो यह सहयोजन है, इंटरेक्सन है। एक प्रकार से योग है। यहाँ, नहीं का उपमान तुलसी डायनोमिज्म के संदर्भ में कर रहे हैं। तुलसी एक साहित्यिक संचय (कार्पस) बनाते हैं लेकिन वे इसे नदी कहते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि काव्यार्थ भी सदैव नदी की तरह प्रवहमान या कहें गतिमान रहता है। यही कारण है कि उनके चित्रकूट पर संतों की भीड़ इस रसास्वाद के लिए उमड़ी रहती है।

तुलसी के मानस की काव्य संरचना में हमें ढूँढ़ने पर भी कोई आधिक्रमिक संरचना (हाइरारकि) पाठक और कवि या कवि और पाठक जैसी दिखाई नहीं देती है। वे तो कहते हैं कि –

निज कबित केहि लाग न नीका।
सरस होइ अथवा अति फीका।।

क्योंकि तुलसी का काव्यशास्त्रीय विवेक पढ़त के इस अनुभव से परिचित था कि रीडिंग प्रत्येक पाठक की अपनी-अपनी है। यानी अर्थ के अनंत द्वार सबके लिए खुले हैं। संरचनावादियों के मुहावरे में कहें तो तुलसी पाठकीय रचना लिख रहे थे लेखकीय रचना नहीं। उनके पाठक को उनके लिए कबि कोबिद रघुवर परित मानस मंजु मराल यानी सुंदर हंस है वह भी मानसरोवर के। उनके रूपक, मिथक, प्रतीक और अर्थों के विविध आयाम उनकी काव्यकला में व्याप्त प्रबंध कौशल अंतर्पाठ्यत्व की विशेष गरिमा को वहन करता है। इसी क्रम में उनकी संकेत भाषा (Semiotics) पर भी गौर करना प्रासंगिक होगा। संकेत भाषा यानी ध्वनि संकेतों का आंगिक भाषा से अभिव्यंजना का प्रकटीकरण। बालकाण्ड का पुष्पवाटिका प्रसंग इस हेतु विशेष ध्यान दिए जाने योग्य है–

चितवति चकित चहूँ दिसी, सीता कह गए नृपकिसोर मनुचिंता।
लता ओट तब ससिन्ह लखाए, स्यामल गोर किसोर सुहाए।।
देखि रूप लाचन ललचाने, हरषे जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति छवि देखी, पलकहि परिहरी निमेषी।।
अधिक स्नेह देह भै भौरी, सरद ससि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहि उर आनी, दीने पलक कपाट समानी।
जब सिप सखिन्ह प्रेमबस जानी, कहि न सकहि कछु मन सकुचानि।।

यह पद्य भाषेतर संकेतों की दृष्टि से बहुत ही उम्दा पद है। दृष्टिव्यापार का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। इस पद्यांश में आए शब्द चितवति, चकित लोचन ललचाने, थके नयन पलकन और

लोचन मग; ये सब के सब नेत्र के संकेत है। गौर करेंगे तो पाते हैं कि यहाँ नेत्र व्यापार गत्यात्मकता से स्थिरता के क्रम में आगे बढ़ रहा है। संकेत सदैव ही कार्यरूप होते हैं। हर संकेत का एक ठोस कारण होता है। नेत्र की ये विविध मुद्राएँ उसी का प्रतिफलन है। चितवति चकित में जहाँ आकुलता-व्याकुलता, विस्मय का भाव है वहीं लोचन ललचाने में दृष्टि लोभ, निधि पहिचाने में प्रसन्नता और लोचन ललचाने में प्रसन्नता और थके नयन में शांतता, स्थिरता परिहरी निमेषी में थकान आखिर में आए लोचन मग में सीता द्वारा राम को अपने हृदय में स्थिर करने की प्रक्रिया है। हालांकि सारा का सारा वर्णन अन्य पुरुष शैली में है पर बल का केन्द्र नेत्र है। दृष्टि की भावानुरूप विकलता, लोग, निरंतरता और शांति की पात्रा का ऐसा अनूठा वर्णन हमें अन्यत्र शायद ही देखने को मिले। यह समस्त व्यापार सीता के हृदय में श्रीराम के प्रति उत्पन्न रतिभाव का ही द्योतन है।

इसी क्रम में स्पार्शिकता से युक्त दैहिक बिम्बों का अंकन भी अत्यन्त खूबसूरत बन पड़ा है। स्पार्शिक बिम्ब की एक छटा देखिए—

मोर मनोरथ जानहु नीके, बसहु सदा उरपुर सबही के।
कीन्हेंउ प्रगट न कारण तेहि, अस कहि चरण गहे वैदेही।
बिनय प्रेम बस भई भवानी, खसि माल मूरति मुस्कानी।
सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ बोली गौरी हरश हियँ भरेऊ

यह प्रसंग सीता का गिरिजा माता के मंदिर में जाकर उनके चरणों में स्वयं को समर्पित करने व अपनी विरह वेदना की अभिव्यक्ति का है।

इसमें उनके द्वारा अपने हाथों से गिरिजा के चरणस्पर्श कर उन्हें पकड़ना, माला का गिरना, भवानी की मूरति का मुस्कराना ये सब स्पार्थिक बिम्ब हैं। यहाँ भवानी का मुस्कराना केवल उसकी भक्ति पर रीझकर प्रसन्नता जाहिर करना नहीं है वरन् यह साभिप्राय है। वह साभिप्राय यह है कि राम विष्णु के अवतार हैं। सीता लक्ष्मी का। तो सीता से भला विष्णु को मिलने को कौन रोक सका है तभी तो माला सीता के सम्मुख गिरकर यह संकेत देती है कि भविष्य की जयमाला तुम्हारे अनुसार ही तुम्हारे गले में होगी।

इस तरह हम देखते हैं कि तुलसी का पाठ अंतर्पाठीयता से भरा पड़ा है। एक और महत्त्वपूर्ण बिंदु, जिस पर लगभग न के बराबर ध्यान दिया गया है, वह है कि ब्रेख्त, एलियनेस का आदि विचार भी हमें मानस में देखने को मिलता है। इस संबंध में उत्तरकांड का यह पद दृष्टव्य है—

जथा अनेक वेष धरि नृत्य करई नह कोई।
सोई सोई भाव देखाबह आपुन होई न सोई।।

यानी जैसे कोई नर नानाप्रकार के वेष धारण करके उन चरित्रों के अनुकूल भावों का प्रदर्शन तो करता है लेकिन वह स्वयं उनमें से कोई नहीं है। यह जो स्वयं का कोई नहीं होना है वही तो ब्रेख्तीयन एलियनेसन की आदि गूँज है।

आखिर में लाइफ ऑफ टेक्स्ट के लेखक लुटजेडोर्फ की ये पंक्तियाँ साझा करना उचित जान पड़ता है जिसमें वे कहते हैं कि मानस एक यज्ञ है, लीला है। रूपंकर है। परफोरमेन्स है। सच में रामचरितमानस मानव के मानस की गतिविधियों के साथ काव्यकला की बारीकियों का एक ऐसा संतुलित टेक्सट है जो आज भी अर्थ की अनंत संभावनाओं के द्वार खोले है।

इतिशुभम्।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर (हिन्दी)
राजकीय डूँगर महाविद्यालय
बीकानेर। मो.9414020840
ई-मेल : drjoshibr@gmail.com

वही दाना देना प्रभु

–**गगन गिल**

वही दाना देना, प्रभु
जिस पर
मेरा नाम हो

वही बूँद पानी मिले
जिसमें मेरी
प्यास हो

टुकड़ा भर आकाश, प्रभु
फटा जिसका छाता हो

कभी-कभी दिखता उसमें
सूरज और चाँद हो

मुट्ठी भर तारे हों
उड़ते उसमें बादल हों

पंछी हों
रंग हो
थोड़ा भर अँधेरा हो

वही आँख देना
प्रभु
जिसमें कोई सूझ हो

काँपता सा दिल देना
थरथराती साँस

दो-चार दिन
मिलें
दो-चार रात

जल दो
तो कल-कल हो
सीना कभी
टप-टप हो

वही समय देना, प्रभु
जिसमें कोई आहट हो

प्रेम दो तो ऐसा हो
वही मेरा
सब-कुछ हो

बादलों में
दिखे-छिपे
तुम जैसा
झिलमिल हो

न सही मनुष्य
चाहे पेड़ हो
मछली हो

वही प्रिय देना, प्रभु
जिसे
मेरी आस हो

इतना सब्र देना
मेरी भूख
मेरी प्यास को

न पाने में धोखा
न हक़ में
कहीं गड़बड़ हो

हो मेरे भाग्य का
हो मेरे भाग्य में

उतना ही देना, प्रभु

भले वह भूख हो
भले वह प्यास हो

अभी मैं पहचानती हूँ तुम्हें

अभी मैं पहचानती हूँ तुम्हें
रंगों में
किरणों में

देख लेती हूँ
हवा की सरसराहट में
छिपे बैठे हो किस ओर

लगाये रहती हूँ
सन्नाटे में कान

ठिठुरता है दिल जब
लम्बी लगती है रात
मालूम रहता है तब भी
यहीं कहीं होगे तुम
सुधार रहे होगे
दुनिया की घड़ी

एक दिन जब पहुँचूँगी
सभा में तुम्हारी
बिना नेत्रों, इन्द्रियों के
कैसे पहचानूँगी तुम्हें तब

किससे कहूँगी
कैसी पीड़ा में मिटी
इस जनम
धीरे-धीरे
मेरे माथे की लिखत

अभी मैं पहचानती हूँ तुम्हें
इस कण भर समय में

उस काल-रात्रि के बीहड़ में
कहाँ ढूँढूँगी तुम्हें ?

दूध की नदी तुम

स्वप्न में बह आयी है
तुम्हारी मीठी गन्ध

कुछ ऐसे कि भूख-प्यास से
खुल गयी है मेरी आँख

दूध की नदी तुम
तब भी
अब भी

इसी तरह दूर
तब भी
अब भी

मैंने नहीं पिया, माँ
अपने हिस्से का दूध
न पिया कभी छोटी ने
मेरे हिस्से का

इस रात से पहले
क्यों नहीं कभी सोचा
कभी पूछा

कौन सुखा गया था, माँ
मेरे हिस्से का दूध ?

तुम सूई में से निकलती हो

तुम सूई में से निकलती हो
मैं धागे में से, माँ

कभी सूई में से मैं,
धागे में से तुम

कौन सी बखिया, माँ
हम सिले जा रहीं
सदियों से

कौन सा यह टाँका
पूरा होने में नहीं आता

कब उतरेंगे सितारे
मैली अपनी चादर पर

खिलेगा कोई फूल
अपनी इस फुलवारी पर

कब ओढ़ेंगी
हम चाँद पर पंछी

खेलेंगी कब
लुकन-छिपाई

बीत गये दिन, माँ
बीत गये बरस सब

न ख़त्म होने को ये तुरपाई, माँ
न धागा
न कहीं छोर इस चादर का

इतनी लम्बी ये सुई
कभी उँगली में तुम्हारी
कभी नाख़ून में मेरे

छेद में से तुम निकलती हो
जैसे ईश्वर के द्वार से

तुम्हारे पीछे-पीछे मैं
तुम्हारा चिथड़ा

gagangill791@hotmail.com

एक ख़लिश, एक तमन्ना

–आफरीन खान

हवाओं की तरह मैं भी
सागर की लहरों को
छूना चाहती थी
खुश्बुओं की तरह मैं भी
फज़ाओं में हरसूं
बिखरना चाहती थी
सागर की गीली रेत पर मैं भी
नंगे पांव हिरनी सी
दौड़ना चाहती थी
हाँ मैं भी खुले आकाश को
छूना चाहती थी

पर डरती थी
लहरों को छूने से
कहीं आँचल भींग गया
तो घर कैसे जाऊंगी
भींगे आँचल को अपने
मैं कैसे सुखाऊँगी

दौडूँगी गर गीली रेत पर
तो वो मेरे नंगे पांव
और गीले दामन से
लिपट जाएगी
दामन के इन दागों
को कैसे छुपाऊँगी
लोगों की नजरों से
खुद को कैसे बचाऊँगी

ऐसे न जाने कितने सवालों की
अनदेखी जंजीरों से जकड़ी मैं
अपने सपनों को वक़्त की
संदूक में सहेजती चली गई
आज उम्र के ढ़लते पडाव पर
इस संदूक को खोले बैठीं हूँ
कितनी मासूम ख्वाहिशें
कितनी बेलौस चाहतें
कितने अधूरे सपने
मुझसे हिसाब मांगते हैं
मेरी बुज़दिली का
मुझसे जवाब मांगते हैं

मैं ख़ामोश अपनी अनदेखी
बेड़ियों को निहारती हूँ
आह जिनकी गिरहों को
खोलने का हुनर
अब तक मैं न सीख सकी
मगर ये भी सच है कि
मैं आजाद होना चाहती हूँ
हाँ! मैं भी आजाद होना चाहती हूँ

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
राजनीति विज्ञान एवं लोक प्रशासन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

हिन्दी महिमा

–संतोष सोहगौरा

समावेश जब अन्य हों, भाषाओं के बोल।
हिन्दी बने समर्थ तब, ओढ़ बहुमुखी खोल।।

कण-कण में जो व्याप्त है, अमर शक्ति का तत्व।
हिन्दी का यों देश में, होवे श्रेष्ठ महत्व।।

''हिन्दी दिवस'' में व्रत प्रबल, तब वह बने सनाथ।
इसके सतत् विकास में, वचन, कर्म, मन साथ।।

हिन्दी तरु जब हिन्द में, कल्पवृक्ष बन जाय।
जन-जन की माला बने, देश जपे मन भाये।।

उत्तर से दक्षिण दिशा, पूरब पश्चिम जाये।
अमर ज्योति हिन्दी बने, जगमग जग हो जाये।।

आजादी की भाषा बन, संस्कृति संकल्प महान्।
देश अस्मिता अक्षुण्ण रख, विश्व बंधुत्व जहान्।।

देश प्रगति पथ पर, जब आगे बढ़ता जाए।
हिन्दी की माला पहन, लोग यहाँ रम जाएं।।

मन विशाल हो, सीना चौड़ा, ऐसा मेरा वेश।
हिन्दी का यश बढ़े, समर्थ बने यह देश।।

मनसा वाचा कर्मणा, जब लेवे यह मोल।
हिन्दी का मान बढ़े, तब जले जगत की जोत।।

कुलसचिव (प्र.)
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

कविता

–नीरज उपाध्याय

परोपकार

पंखुड़ी ने जड़ से कहा–
क्यों बे जड़?
तेरी इतनी सेवा पर भी
कोई पूछ नहीं होती।
मुझे देख लोक प्रसन्न होता है।
आसपास भंवरे मंडराते हैं–
मधु लेते हैं,
लौट जाते हैं,
फिर आते हैं।

कहने को तो तू निरपेक्ष है,
पर इसके सिवा चारा भी क्या है?
ना तुझे कोई सूंघता है,
ना पूछता है।
सड़ा लेता है, अनपचा लेता है;
पानी पहुंचाता है, खाना पहुंचाता है।
बार-बार कुछ दे जाता है–
तू मूर्ख है, तू मूर्ख है।

अनपचा जड़ ने ले लिया
कुछ ना कहा।
दो दिन में पंखुड़ी झड़ गई,
जमीन पर पड़ी तो सड़ गई।
अब एक दूसरा फूल लगा था,
पहले से सुंदर...
जड़ तो था सेवारत, सुजनरत–
क्योंकि आजीवन अहंकार से,
क्षण भर का परोपकार
ज्यादा सुख देता है।

पेड़ और प्रकृति

एक आदमी खड़ा होता है,
मुश्किलों में अड़ा होता है–
पेड़ के तने की तरह।

एक औरत पड़ी होती है,
जमीन में गड़ी होती है–
पेड़ की जड़ की तरह

खिलते हैं फल-फूल
पेड़ पर बच्चों की तरह,
चकित, अनवरत
देखते हैं जो हर तरफ।
नहीं देख पाते मगर–
तने की तरफ, जड़ की तरफ।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
रसायनशास्त्र विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

प्रेम के पंछी, नाचे में मोर

–रामहेत गौतम

प्रेम के पंछी

प्रेम के पंछी
आँखों का चार होना
उषेश साक्षी।

प्रेम के पंछी
फिर मिलने का वादा
संध्या है साक्षी।

घर न पात
आगे काली रात
पागल प्रेमी।

तुम साथ हो
आगे काली रात हो
जीत जायेंगे।

तू भी जा खग!
रात रोशन होगी
प्रेममणि से।

नाचे मे मोर।

उत्कण्ठित हो
निहारे नभ मीत
अटा पै मोर।

कण्ठ में केका
पैरों में थिरकन
संजोये मोर।

बरस मेघा
कब लों? बरसेगा
नयननीर।

नीलकंठ मैं
नीलवदन तुम
विरह आग।

आजा गा पिय
तर हो ते रस में
नाचे मे मोर।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
संस्कृत विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

बेटी

–प्रकाश जैन

कल की 'बेटी' बहु आज की, कल 'बेटी' की माँ होगी।
अपने जिगर के टुकड़े की, माता बनकर के खुश होगी।

कुम्भकार के हाथ में आकर, माटी घट बन जाती है।
माँ की गोद में आकर ''बेटी'', आँगन को महकाती है।।
ऐसी प्यारी बिटिया पाकर, माता धन्य-धन्य होगी,
अपने जिगर के टुकड़े की, माता बनकर के खुश होगी।

इस भारत भूमि पर जिस कन्या को पूजा जाता है।
उस कन्या में सरस्वती-दुर्गा का रूप समाया है।।
ऐसी कन्या सदियों से, जन-जन में पूज्यनीय होगी,
अपने जिगर के टुकड़े की, माता बनकर के खुश होगी।

कुदरत ने इस मातृशक्ति में, अद्भुत गुण यह बक्शा है।
उस गुण के कारण ही, धरती माता-सी पावनता है।।
दो कुल की सेतु बनकर, निज वंश की जननी होगी,
अपने जिगर के टुकड़े की, माता बनकर के खुश होगी।

फैशन के इस दौर में ''बेटी'', जन्म नहीं ले पाती है।
जन्म से पहले ही बेचारी, कोख में मारी जाती है।।
ऐसी माताओं के कारण, ''बेटी'' जन्म नहीं लेगी,
अपने जिगर के टुकड़े की, माता बनकर के खुश होगी।

जब तक ''बेटी'' की कम संख्या, पूर्ण नहीं हो पायेगी।
तब तक ''बेटों'' की मातायें, कैसे विवाह रचायेंगी।।
भ्रूण की हत्या रूकवाने की, आज से सौगन्ध होगी।
अपने जिगर के टुकड़े की, माता बनकर के खुश होगी।

सहायक
वित्त एवं लेखा शाखा
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

शिक्षक

—महेन्द्र कुमार

शिक्षक की गोद में उत्थान पलता है।
जहाँ सारा शिक्षक के पीछे चलता है।

शिक्षक का बोया पेड़ बनता है।
हजारों बीज वही पेड़ जनता है।

काल की गति को शिक्षक मोड़ सकता है।
शिक्षक धरा से अम्बर को जोड़ सकता है।

शिक्षक की महिमा महान होती है।
शिक्षक बिन अधूरी वसुन्धरा रहती है।

याद रखो चाणक्य ने इतिहास बना डाला था।
क्रूर मगध राजा को मिट्टी में मिला डाला था।

बालक चन्द्रगुप्त को चक्रवर्ती सम्राट बनाया था।
एक शिक्षक ने अपना लोहा मनवाया था।

संदीपनी से गुरू सदियों से होते आये हैं।
कृष्ण जैसे नन्हें-नन्हें बीज बोते आये हैं।

शिक्षक से ही अर्जुन और युधिष्ठिर जैसे नाम हैं।
शिक्षक की निन्दा करने से दुर्योधन बदनाम है।

शिक्षक की दयादृष्टि से बच्चे राम बन जाते हैं।
शिक्षक की अनदेखी से वो रावण भी कहलाते हैं।

हम सब ने भी शिक्षक बनने का सुअवसर पाया है।
बहुत बड़ी जिम्मेदारी को हमने गले लगाया है।

आओ हम संकल्प करें कि अपना फर्ज निभायेंगे।
अपने प्यारे भारत को हम जगतगुरू बनायेंगे।

अपने शिक्षक होने का हरपल अभिमान करेंगे।
इस समाज में हम भी अपना शिक्षा दान करेंगे।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
पुस्तकालय एवं सूचना विज्ञान विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

तीन लघु कथाएँ

- आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

1

सच का सामना

देश के समाचारपत्रों और पत्रिकाओं में शिवदत्त की रचनाएँ छपने लगी थीं। लेखन के स्तर पर कविता, कहानी, निबंध आदि विधाओं में वह स्वयं को माहिर समझने लगा था। साहित्यिक बिरादरी में उसकी चमक बढ़ गयी थी। कुछ किताबें भी छप गयीं थीं। एक पुस्तक लोकार्पण समारोह में स्थानीय साहित्यकारों ने उसकी प्रशंसा की ऐसी झड़ी लगा दी थी कि आज तक उसके दिलोदिमाग पर वह खुमार छाया हुआ है। उसे कबीर के तेवर का कवि घोषित किया गया था। अपनी व्यावहारिक काबिलियत से उसने ढेरों सम्मान और पुरस्कार झटक लिए थे।

शिवदत्त की रचनाएँ आम जन के दुख और तकलीफ का खुला बयान थीं। अपनी कहानियों और कविताओं में वह नेता, अफसर, धनपतियों के खिलाफ आग उगलता है। प्रतिरोध का स्वर उसकी कृतियों में भभक उठता है। आंदोलन के चित्र भी उसने रचनाओं में उभारे हैं।

कभी-कभी शिवदत्त अपनी पत्नी और अन्वय को रचनाएँ सुनाता है और चाहता है कि वे भी प्रशंसा के पुल बांधें। किंतु हर बार ऐसा नहीं होता था। हाँ कभी पत्नी दबे मन से कह देती थी—हाँ अच्छा लिखते हो। पर यह बताओ कि घर में बैठे-बैठे इतने अनुभव की बातें कहाँ से ले आते हो। पत्नी की बात का उत्तर वह इतना ही देता है कि सब प्रतिभा का कमाल है। पत्नी पढी-लिखी थी। वह सब समझती थी।

ऐसे ही एक दिन बेटे अन्वय ने पिता के लेखन के बारे में अपनी जिज्ञासा व्यक्त की। वह प्रायः पिता को फोन पर मित्रों से अपनी रचनाओं में क्रांतिकारी बातों का जिक्र करते हुए सुनता रहता था। पिता की दो-चार कहानियाँ पढ़ी हैं। बेटा अभी दसवीं क्लास में पढ़ता है। एक दिन पिता से पूछा कि आप नगर के बड़े साहित्यकार हैं। कुछ-न-कुछ लिखते रहते हैं। बेटे के प्रशंसा भरे शब्दों को सुनने के लिए पिता के श्रवण व्याकुल हो गये। खुशी चेहरे पर थिरक उठी थी। अन्वय ने कहा कि पापा, एक बात पूछूँ, आप नाराज न होना। शिवदत्त थोड़ा हकबकाये और कहा—अरे नहीं, बेटा, ऐसा क्या जानना चाहते हो कि हमें नाराज होना पड़ेगा। पूछो, निसंकोच भाव से। अन्वय ने कहा कि छोटे मुँह बड़ी बात होगी, पर एक जिज्ञासा है कि आप अपनी रचनाओं में पात्रों के जीवन में आक्रोश ले आते हो। अन्याय के विरोध में संघर्ष के लिये

तैयार करते हो, आंदोलन के लिए उकसाते हो, क्रांति की बातें करते हो, भ्रष्टाचार, अन्याय, सत्ता के खिलाफ पात्रों को तैयार करते हो। पात्रों के माध्यम से विद्रोह की लंबी चौड़ी बातें हाँकते हो। ऐसा कैसे कर पाते हो पापा। रियल लाइफ में मैंने किसी साहित्यकार को ऐसा करते हुए तो नहीं देखा है। पिछले जमाने की बात और थी। आपने अपने जीवनकाल में कभी किसी आंदोलन में भाग नहीं लिया है। सत्य, ईमानदारी किस चिड़िया का नाम है? आपने कभी जाना ही नहीं? इतनी बड़ी बड़ी बातें बिना जाने कैसे लिखी जाती हैं। पूरा जीवन केवल घर-परिवार की सुख-सुविधाओं का सरंजाम जुटाने में लगे रहे। सुनी-सुनायी बातों को सच में कैसे बदल लेते हो पापा? कोरोना के डर से घर में घुसे रहे, फिर भी लॉकडाउन के विषय में क्या खूब लिखा है। जैसे आप ही कोरोना वारियर्स हो। लिखने में इतना झूठ लिखना पड़ता है?

शिवदत्त के चेहरे का रंग उड़ा हुआ था। उन्होंने कभी सोचा ही नहीं था बेटा ही आईना दिखायेगा। पापा के रंग उतरे चेहरे को देखकर अन्वय को भय हुआ कि पापा नाराज होंगे। पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। शिवदत्त आत्मग्लानि में डूब गये थे। सच का पहली बार सामना करते हुए वे मन-ही-मन दुखी हुए। सत्य का कोई सिरा पकड़ में नहीं आ रहा था। वे हवा-हवाई बातों के बवंडर से बाहर निकलने के लिए छटपटा रहे थे। सारे सम्मान व पुरस्कार, वाहवाही मिथ्या प्रतीत हुई। मन-ही-मन वे नया संकल्प लेते हुए दिखे। अन्वय की तरफ देखकर उनके विश्वास को नया अवलंब मिल गया था। चेहरे की उदासी छँटने लगी थी।

2

सबक

रामू अपने गाँव में पानी की समस्या से अनजान नहीं था। यह बरसों की बड़ी समस्या थी। पूरा गाँव बेहाल रहता था। गर्मी आते-आते गाँव के कुएँ, हैंडपम्प, तालाब सूखने लगते थे। पूरा गाँव पानी के लिए त्राहि-त्राहि करने लगा था। सरकारी जल व्यवस्था से लोगों का भरोसा उठ गया था। पंचायत में जल के लिए अनेक बार पैसा सरकार से मिला। कुछ हैंडपम्प लगे, कुओं की सफाई भी हुई। लेकिन बाकी पैसा कागजों पर खर्च में दर्ज होकर रह गया। कोई आवाज उठाने के लिए तैयार नहीं होता है। पास में शहर से पानी का टैंकर आ जाता है, गाँव भर का काम कुछ दिनों के लिए चलता है। फिर कुएँ पोखर देखना-भटकना पड़ता था। पानी कम पड़ जाता था। लॉकडाउन में रामू शहर दिल्ली से अपने गाँव लौट आया था। रामू और उस जैसे सीधे-सादे गरीब और छोटी जाति के लिए हर बार टैंकर का पानी कम पड़ जाता था। उसका नंबर ही नहीं लग पाता था। इस बार लॉकडाउन की वजह से सबको रोना आ गया। गाँव में पानी के एक भी साधन काम नही आये। सब परेशानी झेल रहे थे और बार-बार सरकारी तंत्र को कोस रहे थे। पानी के इस संकट से उबरने का कोई उपाय किसी ने नहीं ढूँढा। हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने से कोई बात बनने वाली नहीं थी।

रामू भी पानी की समस्या से जूझ रहा था। उसने दशरथ मांझी के पुरुषार्थ का किस्सा

शहर में ही सुन रखा था। जिसने पहाड़ काटकर गाँव के लिए रास्ता बना दिया था। रास्ता न होने के कारण उसकी पत्नी शहर इलाज के लिए नहीं ले जायी जा सकी थी और उसकी मृत्यु हो गयी। उसी समय दशरथ मांझी ने पहाड़ का सीना चीरकर रास्ता बनाया था। लॉकडाउन में मजदूरी का काम बंद हो गया था। घर बैठे समय नहीं कट रहा था। चकल्लस में समय को बर्बाद करना रामू को पसंद नहीं था। अचानक रामू के मन में विचार जगा कि क्यों न वह भी दशरथ मांझी की तरह कोई चमत्कार कर दे। कुआ खोदने का आइडिया उसके मन में पैठ गया। रात भर उसे नींद नहीं आयी। वह दुविधा में फँसा हुआ था क्योंकि वह बहुत कठिन व्रत लेने जा रहा था। अगली सुबह सूरज उगने के साथ उसने कुआ खोदने का अपना निर्णय पुख्ता कर लिया था। अकेले ही रामू अपने इस अभियान को अंजाम देने के लिए तत्पर हुआ था। उसने अपने घर की जमीन में कुआ खोदने का संकल्प पत्नी को बताया। वह डर सी गयी। उसे पलभर के लिए रामू की बात पर विश्वास ही नहीं हुआ। उसने कहा—पागल हो गये हो। कुआ खोदना पहाड़ ठेलने जैसा काम है। वह भी अकेले। पर रामू ने किसी भी आदमी की बात नहीं सुना और ईश्वर का नाम लेकर इस काम में जुट गया। उसकी पत्नी और बच्चों ने भी मदद की और पूरे लॉकडाउन के समय में कुआ खुद गया। जब पूरा इलाका लॉकडाउन में भयभीत होकर घरों में टाइम पास कर रहा था, रामू कर्तव्य पथ पर अग्रसर था। केवल गैती फावड़े से उसने कुआ खोदने के काम को अंजाम दे दिया था। तीस फुट गहरा कुआ तैयार हो गया, कुए में पानी ही पानी उतर आया था। वह पानी उसके खेत और बगीचे की सिंचाई के लिए पर्याप्त था। हरा-भरा फलों का बगीचा पानी पाकर लहलहा उठा था। सब लोग उसे बधाई देने आये और उसकी हिम्मत और होंसले की दाद देने लगे थे। अब उस पूरे क्षेत्र में रामू का इकलौता कुआ था जिसमें पानी है। परिश्रम का फल मीठा होता है, यह रामू ने सिद्ध कर दिया। गाँव वालों के लिए यह एक यादगार सबक है।

3

यही सच है

ऐसे ही एक दिन। खाली समय में मिली की नजर अपने हाथों में पहने हुए स्वर्ण कंगन और अंगूठी पर गयी। वह बड़ी देर तक उन गहनों को देखती रह गई। उन गहनों की चमक गायब हो चुकी थी। पहले जैसी नहीं रह गयी थी। दस साल पहले खरीदा था अभिनव ने एरियर्स मिलने पर। वर्षों की अधूरी इच्छा पूरी हुई थी मिली की। उन्हें पहनकर मिली उछाह से भर गयी थी। अपनी सहेलियों को बड़ी शान से दिखाया था उसने। कई दिनों तक मुहल्ले में उसके कंगना की डिजाईन की चर्चा होती रही। सबकी निगाह में मिली की इज्ज़त बढ़ गयी थी।

लेकिन आज गहनों के घिस जाने को लेकर मिली बेहद दुखी है। वह अभिनव के समक्ष अपने मन को खोलना चाह रही थी।

अभिनव ने कहा, दुख किस बात का है? नया खरीद लेना। मतलब मैं खरीद दूंगा।

मिली को पता है कि उसकी हैसियत नहीं है नया जेवर खरीदने की अभी। सोने का भाव आसमान छूने लगा है। बच्चों की पढाई-लिखाई, घर-गृहस्थी और हारी-बीमारी के खर्च बोझ बहुत बढ़ गया है। बार-बार उसका ध्यान उन आभूषणों के उदास रंग पर आकर टिक जाता है।

अभिनव ने कहा—तुम आभूषणों के पुराने पड़ जाने पर इतना दुखी हो। चिंतित हो रही हो। कभी सोचा कि तुम भी तो पुरानी हो गयी हो। यह शरीर भी पुराना हो रहा है। कभी तुमने अपना रंग-रूप देखा, कितना चटक और निखरा हुआ था पहले, और आज देखो। उतर गया है न रंग और चित्त भी पहले जैसा नहीं रह गया है। पुनः मिली अपनी कलाई देखने लगी थी। और जब दिल नहीं माना, दर्पण लेकर आईं और अपना चेहरा उलट-पुलट कर देखने लगी थी। आँखों के नीचे झाँईं व सलवटों को उंगलियों से वह फैलाने लगती है। चेहरे की रंगत व चमक को वह कहाँ से ले आयेगी? अपना कोई वश नहीं है।

अभिनव ने कहा—क्या देख रही हो मिली?

वह एक शब्द भी न बोली। बस कभी अपनी साँवली हो गयी उन बाँहों को देखती और कभी दर्पण में अपना उड़ा रंग वाला चेहरा। फीके रंग पर कितना भी रंग-रोगन पोतो, पहले वाली बात अब कहाँ?

अभिनव ने सांत्वना भरे शब्दों में कहा—देखो! थोड़ी देर पहले तो तुम्हें आभूषण के घिस जाने की चिंता सता रही थी और अब देह की चमक खोने की भारी चिंता में पड़ गयी हो।

मिली उदास हो गयी थी।

अभिनव ने फिर समझाया—उम्र के इस पड़ाव पर वाह्य अलंकरण की अपेक्षा भीतर भावों की चमक बची रहे, देह-दशा अच्छी रहे, इसकी चिंता करना चाहिए। बाहरी रूप-रंग कब तक बना रहेगा। कब तक क्रीम पाउडर से ढँकती रहोगी अपने चेहरे के फीकेपन को।

जीवन का यही सच है। इतनी आसानी से कभी किसी की समझ नहीं आया है। मिली की भी समझ में इतनी सरलता से आने वाला नहीं है।

मिली कुछ देर तक बुत बनी बैठी रही। शायद मन ही मन वह सच को समझने की कोशिश करने लगी थी। उम्र के इस पड़ाव पर आकर मिली जीवन के धूसर रंगों में ही सौन्दर्य के शेष रंगों को ढूँढने लगी थी। अपने मन की साध पूरा करने के लिए यही एक रास्ता था। मिली सब्र से काम लेती है। जीवन में उत्साह जगाने की कोशिश में वह मन को तैयार कर चुकी थी। वह अचानक उठी और घर के काम में जुट गयी थी।

प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

कबीर और गाँधी : दो जुलाहे, दो सन्त

–रमेश दवे

कबीर रहित कविता का भक्तिकाल केवल भजन-कीर्तन-काल बन कर रह जाता। कबीर नहीं होते, तो उनके पाँच सौ साल बाद तक अर्थात् गाँधी के राजनीतिक उदय तक भारत हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द और धर्मनिरपेक्षता की मिसाल बन कर आजादी के बाद अपना पन्थ–निरपेक्ष संविधान तय नहीं करता। कबीर नहीं होते, तो हिन्दू-मुसलमान के बीच धार्मिक, सामाजिक और नैतिक रिश्तों का वैसा समन्वय नजर नहीं आता, जो बाबरी मस्जिद के ध्वंस के पहले तक भारत में मौजूद था। इन सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि यदि कबीर नहीं होते तो भारत का सामन्ती पाखण्डवाद दलितों और दरिद्रों को कुचल कर रख देता। अन्ततः यदि कबीर नहीं होते, तो मांसाहारी प्रवृत्ति और पशुवध के विरुद्ध आज के पर्यावरणविद और परिस्थिति वैज्ञानिक शाकाहार की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए हमें कबीर-वाणी की इन शब्दों में याद नहीं दिलाते :

बकरी पाती खात है ताकी निकले खाल।
जो नर बकरी खात है ताको कौन हवाल।।

पाँच सौ साल पहले पैदा हुए कबीर और 123 साल पहले पैदा हुए गाँधी किसी भी देश, संस्कृति और इतिहास के सांस्कृतिक और सामाजिक जागरण के प्रतीक कहे जा सकते हैं। ऐसा लगता ही नहीं कि कबीर पन्द्रहवीं सदी में पैदा हुए थे और गाँधी 19वीं में। कबीर का युग भक्ति का युग था, लेकिन कबीर ने भक्ति में मनुष्य के अन्दर के ईश्वरत्व को जाग्रत किया। गाँधी उस चेतनायुग के प्रतिनिधि थे, जब आधुनिकता और अन्धविश्वासों के बीच वैज्ञानिक टक्कर हो रही थी, स्वदेशी और स्वतन्त्रता की लहरें उठ रही थीं और नवजागरणकाल से चले आ रहे ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज जैसे संगठन लोगों को धर्म की नई व्याख्याएँ दे देकर भक्ति के किसी नए संस्करण से परिचित करा रहे थे। ऐसे में गाँधी ने ईश्वर में मनुष्य खोजा। कबीर की खोज यदि मनुष्य में ईश्वर की खोज थी, तो गाँधी की खोज ईश्वर में मनुष्य की। इस प्रकार दोनों के लिए केन्द्र में तो मनुष्य ही था, एक भक्त बन कर मनुष्य तक पहुँच रहा था, तो दूसरा सेवक बन कर मनुष्य तक जा रहा था। कबीर और गाँधी, दोनों ही आज के विचारक हैं, आधुनिक विचारक हैं, भले ही कबीर का काल मध्यकाल था, सामन्ती काल माना जाए, और गाँधी का काल परतन्त्रता का काल था, अंग्रेजी साम्राज्यवाद का काल माना जाए। कबीर की तरह गाँधी के लिए भी यह कहा जा सकता है कि अगर भारत गाँधी रहित होता,

तो बड़े पैमाने पर उस भारतीयता से भी रहित होता, जिसे सांस्कृतिक और सामाजिक एकता और समन्वय की भारतीयता कहा जा सकता है।

कबीर ने छह सौ साल पहले यदि मनुष्य के भ्रष्ट ईमान पर आक्रमण किया था और उसे बेईमानी से मुक्त होने के लिए ललकारा था, तो गाँधी ने मनुष्य के स्वाभिमान और उसकी स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी थी। कबीर पाखण्ड से मुक्ति का जन-संघर्ष कर रहे थे, गाँधी पराधीनता से मुक्ति का लोक-सत्याग्रह कर रहे थे। यदि छह सौ साल पहले कबीर और उनकी ही परम्परा में 19वीं सदी में गाँधीजी नहीं होते, तो भारत का अर्थ 'इण्डिया' ही बना रहता जिसकी चेतना में सदैव योरप, अमेरिका और पश्चिम ही तरंगित होते रहते। सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा, असहयोग और स्वदेशी जैसे मंत्र—शब्द भारतीय राजनीति में जन्म नहीं लेते और भारत केवल मन्दिर-मस्जिदों पर एक ऐसा माथा-टेकू भारत बना रहता, जो धर्म की अफीम के नशे में अपने अन्दर की ईश्वरीय ताकत का अन्वेषण नहीं कर पाता। जब-जब देश में कबीर और गाँधी को अलग करने की कोशिश की गई, तब-तब यहाँ कभी धार्मिक उन्माद उमड़े तो कभी दंगे हुए, तो कभी मस्जिद गिरी। भारतीय संस्कृति और गाँधी-कबीर के देश लिए वह दिन कितनी बड़ी शर्म का दिन था, जब सन्त-महन्त किसी धर्मस्थल की रक्षा के बजाय, उसके ध्वंस में शामिल थे।

कबीर ने अपने समय के सन्त की परिभाषा बदल दी थी और गाँधी ने अपने समय के सन्त या महात्मा की परिभाषा बदल कर रख दी थी। कबीर की चदरिया या चोगा न हरा था और न केसरिया, उसकी तो निर्गुनिया वेशभूषा थी, ऐसी सफेद-झक्क चदरिया, जिसे उसने 'जस का तस' रख दिया। ''जस की तस धर दीन्ही चदरिया'' एक निष्कलंक, बेदाग, स्फटिक की तरह श्वेत चरित्र की प्रतीक थी, जिसे कबीर ने स्वयं बुना था और पहना था। किसी भी सन्त-महात्मा की सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वह अपने जीवन के अन्त तक अपनी देह और आत्मा का विश्वास कायम रख सके। कबीर ने लिबास का लबादा नहीं ओढ़ा और गाँधी ने भी वस्त्रों का वज़न उतार फेंका। केवल एक सफेद-झक्क धोती, ठीक कबीर की चदरिया की तरह। ऐसा लगता था जैसे गाँधी ने भारत की गरीबी और सर्वधर्म संस्कृति का समन्वय धोती बना कर पहन रखा हो। गाँधी ने न किसी हिन्दू सन्त-परम्परा के वस्त्र धारण किये, न किसी सूफी-पीर परम्परा का कोई बाना धारण किया। कबीर ने अगर जस की तस चदरिया रख दी थी, तो गाँधी ने भी अन्तिम क्षण तक चदरिया वैसी ही रखी और स्वयं तो उसे कभी मैला नहीं होने दिया, लेकिन गाँधी की हत्या ने उस चदरिया को खून से रंग दिया। अन्तर है तो केवल इतना कि कबीर की मौत नैसर्गिक थी और गाँधी की हत्या पाशविक। कबीर की चादर को मौत के बाद किसी ने मुसलमान तो किसी ने हिन्दू बनाने की कोशिश की, और गाँधी की चादर इसी हिन्दू-मुसलमान के नाम पर मौत के पहले रँग दी गई। कबीर लोक के लिए जीए और अपने लिए मरे, गाँधी जीए भी लोक के लिए और उनकी हत्या भी लोकहत्या ही हुई। इस दृष्टि से

यह भी कहा जा सकता है कि छह सौ साल पहले का लोक अधिक सहिष्णु उदार और धर्मनिरपेक्ष था और गाँधी के समय का लोक गाँधी के तमाम प्रयत्नों के बावजूद हत्या, हिंसा और धार्मिक कट्टरता से मुक्त नहीं हो सका। कबीर का अर्थ था एक ऐसा भाई, जो कहता था, कहने वाला बीर अर्थात् कबीर और गाँधी का अर्थ था गंधयुक्त अर्थात् जिसमें स्वेदशी, स्वतन्त्रता और स्वाभिमान की गन्ध थी।

कबीर और गाँधी समान ताने-बाने के सन्त थे। कबीर को आज छह सौ साल बाद का गाँधी कहा जाय, तो गाँधी को सौ साल पहले का कबीर कहा जा सकता है। दोनों के सामाजिक और आध्यात्मिक धरातल स्पष्ट भी थे और समान भी। दोनों के लिए शताब्दियों के कालखण्ड निर्धारित नहीं किये जा सकते, बल्कि दोनों से ही शताब्दियाँ निर्धारित होती हैं। सम्भवतया उत्तर-आधुनिकतावादियों ने इतिहास की मृत्यु इसीलिए घोषित की कि इतिहास साम्राज्यों, शताब्दियों, शासकों में कैद होकर रह जाता है, इसलिए कोई भी इतिहास-काल कबीर-काल, तुलसी-काल या गाँधी-काल नहीं बनता, बल्कि बनता है तो मुगल-काल, मध्यकाल, या बीसवीं सदी का जागरण-काल। वैसे किसी भी काल को भक्तिकाल या जागरण-काल कहना एक प्रकार से व्यक्ति से विचार को अधिक महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है, लेकिन जो विचार रचता है, वह भी तो कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। इतिहास यदि व्यक्तियों पर ही निछावर है, तो सामन्त की जगह सन्त पर क्यों नहीं, शक्ति के बजाय भक्ति पर क्यों नहीं, व्यक्ति के बजाय विचार पर क्यों नहीं ? इसलिए कबीर के समय को हमें अब बदलना होगा, उसे मध्यकाल या भक्तिकाल न कह कर कविता-काल कहना होगा, क्योंकि कबीर से लेकर तमाम् सगुण-निर्गुण-सूफी भक्ति सम्प्रदायों तक भक्ति के माध्यम से उत्कृष्टतम कविता-साहित्य रचा गया। इसी प्रकार गाँधी का काल साम्राज्यवाद या स्वतन्त्रताकाल के बजाय चेतना-काल कहा जा सकता है। कबीर के समय में भक्ति के गीत गाना सरल तो था, लेकिन भक्ति को समाज, सत्ता और वर्ग के विरुद्ध आज़माना एक बड़ी चुनौती और जोखिम का काम था। इसी प्रकार गाँधी जिस वैज्ञानिक आधुनिकता के युग में था, उस युग में 'रघुपति राघव राजा राम' गाना कम खतरनाक नहीं था। लेकिन कबीर और गाँधी, दोनों ही अपने-अपने ढंग के सुकरात थे। कबीर ने सुकरात की तरह अपने समय की जनता को प्रश्नों से टकराना सिखाया और गाँधी ने अपने ढंग से। दोनों के पास शस्त्र नहीं थे और न ही भारी-भरकम नीतिशास्त्र। दोनों के पास विकट प्रज्ञा थी, प्रखर चेतना थी और विराट् संकल्प था। यदि अधिक तर्क के साथ देखा जाए, तो सुकरात, ईसा और गाँधी की अपेक्षा कबीर को मध्यकाल में मार देना ज्यादा आसान था, क्योंकि वे एक साथ दो विश्वासों और पाखण्डों पर प्रहार कर उनका भण्डाफोड़ कर रहे थे। कबीर अपने समय के गूँगेपन को ललकार रहे थे और धर्मसापेक्ष होकर भी, धर्म की धुरी हिला रहे थे, और गाँधी धर्मसापेक्ष होकर राजनीति का परिष्कार कर रहे थे। कबीर का धर्म भी राममय था और गाँधी का भी राममय। दोनों के पास ईश्वर-अल्ला थे, लेकिन उनकी इस धर्मसापेक्षता का अल्ला और ईश्वर

इतना निरपेक्ष था कि कबीर के राम-रहीम और गाँधी के ईश्वर-अल्ला के बीच का भेद ही मिट गया था।

कबीर और गाँधी दोनों ही अपने-अपने ढंग के दो जुलाहे भी थे। एक छह सौ साल पहले के गरीब और नंगे भारत का जुलाहा और दूसरा छह सौ साल बाद के भारत की गरीबी और गुलामी की जुलाहा। कबीर ने अपनी आत्मा की ताँती से अपनी देह का कपड़ा बुना था और गाँधी ने अपनी आत्मा के तकली और चरखा चला-चला कर सारे देश की देह ढँकने के लिए सूत काता था। एक जुलाहे का कपड़ा छह सौ साल पहले भक्ति की चदरिया के रूप में बुना गया था और दूसरे का सूत देशभक्ति के स्वाभिमान के लिए कपड़ा बुनवाने का स्वेदशी मन्त्र था। एक ने भक्ति की चादर बुनी, दूसरे ने राजनीति की धोती बुनी। एक की चादर से भक्ति पारदर्शी दिखाई देती थी, तो दूसरे की धोती से राजनीति पारदर्शी नज़र आती थी। कबीर का जुलाहा अपने धर्म का वस्त्र बुन कर धर्म को उढ़ा देता था, गाँधी का जुलाहा राजनीति के धर्म की धोती बुनवा कर सारे देश को उढ़ा देता था। कबीर जन से सूत लेते थे, और खुद बुनते थे, गाँधी स्वयं सूत कातते थे और जन कपड़ा बुनता था। गाँधी और खादी एक थे, कबीर और चादर एक थे। कबीर ने अपनी चदरिया को संकल्प और साहस की चादर बनाया और गाँधी ने अपनी खादी को स्वतन्त्रता और स्वाभिमान की पोशाक के रूप में अपनाया। कबीर की पीड़ा पाखण्ड के विरुद्ध थी, गाँधी की पीड़ा पराधीनता और भारत के विखण्डन के विरुद्ध थी। कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का धर्म अपनाया, गाँधी ने इसी एकता के नाम कुर्बानी दे दी। गाँधी का वैष्णव पराई-पीर का वैष्णव था, कबीर का निर्गुण ईश्वर के गलत इस्तेमाल के विरुद्ध खड़ा होता था। दोनों के अपने-अपने राम भी थे। न कबीर का राम कोई अयोध्या का रामलला था, न दशरथ का राम और न गाँधी का राम किसी मन्दिर का राम था, न किसी अयोध्या का रामलला। राम दोनों की आस्था थे, दोनों के विश्वास थे, दोनों का अध्यात्म थे और दोनों की चेतना थे। कबीर के राम ने अपने समय के सोये हुए समाज को जाग्रत् किया, गाँधी के राम ने पराधीनता की नींद में ऊँघते देश को जगाया। कबीर कविता में विचार रच रहे थे, गाँधी कर्म में विचार आजमा रहे थे। आज जो लोग कबीर में प्रगतिशीलता, आधुनिकता, धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक क्रान्ति की स्थापना कर रहे हैं, कबीर के समय में ऐसे कोई शब्द थे ही नहीं। हमारा आज का समय तो एक प्रकार से कवीरद्रोही समय है। कबीर ने कोई जाति नहीं अपनाई, हम कबीर में जाति खोज कर उन्हें जुलाहा जता रहे हैं, कबीर ने कोई धर्म नहीं अपनाया हम उनमें धर्म खोज रहे हैं, या उनका अपना एक नया पन्थ खड़ा कर रहे हैं, कबीर कोई नेता नहीं थे, मगर हम उन्हें समाज सुधारक का तमगा पहना कर धार्मिक और सामाजिक नेता बना रहे हैं। कबीर को न अपना जन्मदिन मालूम था और न उन्होंने कोई जन्मदिन मनाया, हम उनका जन्मदिन खोज कर उनकी जयन्तियाँ मना रहे हैं। सच पूछा जाए तो कबीर एक सम्पूर्ण सभ्य

और सांस्कृतिक मनुष्य थे और उसी मनुष्य की मनुष्यता में वे पूरे कबीर थे। आज तो कबीर एक नाम नहीं, रूपक है, एक विचार है और भारतीय धर्मनिरपेक्ष संविधान की आत्मा का प्रतीक है।

कबीर तो अघोषित सन्त थे, अलिखित संविधान थे, महाकाव्य या खण्डकाव्य की रचना से मुक्त कवि थे और वेद, वेदान्त के अध्ययन से रहित कुण्डलिनी योग के योगी। वे मध्यकाल के राजतन्त्र में भी अपनी वाणी के लोकतन्त्र के वासी थे, नागरिक थे। गाँधी आघोषित महात्मा थे, राजतन्त्र में जनतन्त्र की जनवाणी थे, सत्य और अहिंसा का उनका अपना संविधान था और अपने नियम, नीति और विचार की दुनिया में वे एक विश्व-नागरिक थे। कबीर का सत्य पाखण्ड पर प्रहार था, गाँधी का सत्य सत्याग्रह था। कबीर का जुलाहा जन से सूत लेकर तन के लिए कपड़ा बुनता था, गाँधी का जुलाहा स्वयं सूत कात कर जन के लिए कपड़ा बुनवाता था। गाँधी अहिंसक शाकाहारी थे, तो कबीर हिंसा पर हमला करके कहते थे ''दिन-भर रोजा रखत है, रात हनत है गाती'' या ''बकरी पत्ती खात है ताकी निकरे खाल'' अर्थात् दोनों की संवेदना समूचे जीवन तक व्याप्त थी। कबीर ने अहिंसा को मनुष्य से लेकर पशु तक व्यापक बना दिया था। जिस प्रकार टॉमस मान जैसा कथाकार हमारे समय में आकर ''ईश्वर के साम्राज्य में ईश्वर की मुक्ति'' खोजता है, उसी प्रकार कबीर और गाँधी, दोनों के लिए कोई साम्राज्य वैसे तो था ही नहीं, न ईश्वर का, न मनुष्य का, और यदि था भी, तो दोनों ही ईश्वर को भी और मनुष्य को भी उन साम्राज्यों की कैद से मुक्त कराना चाहते थे।

कबीर ने अपना जातिबोध कुछ दोहों में प्रकट तो किया है, लेकिन उनकी जाति गुणमूलक थी, जातिमूलक नहीं। वे तो कहते थे :

जाति जुलाहा मति को धीर
हरसि-हरसि गुन रमै कबीर।

या

सरग लोक में क्या दुख पड़िया, तुम आई कलि माहिं।
जाति जुलाहा, नाम कबीरा, अजहूं पतीजा नाहिं।।

कबीर का जुलाहा होना, गुणवान होना है, धीरवान होना है और मतिमान होना है। धैर्य और बुद्धि की जाति अगर जुलाहा नहीं है, तो उसकी ताँती पर बुना हुआ वस्त्र ऐसी चदरिया कैसे बन सकता था, जो बेदाग हो और ज्यों की त्यों रख देने के रूपक से जुड़ी हो? कबीर तो आज के मिलावट युग को भी ललकारता हुआ अपने खालिसपन पर नाज़ करते हैं—

खराखोट जिन नही परखाया
चहत लाभ तिन मूल गँवाया।

कबीर ने अपने समय के साधु-सन्तों का परजीवीपन अपने स्वावलम्बी अध्यात्म से बदला था। इसलिए कबीर का सन्त समाज पर एक प्रकार का परजीवी सन्त नहीं था, बल्कि

उस समय का समाज ही कबीरजीवी होने लगा था। गाँधी ने भी अपना सन्तत्व परपीडा की वैष्णवता और खादी के स्वालम्बन में खोजा था, इसलिए गाँधी के समय की राजनीति और दोनों ही गाँधीजीवी होने लगे थे। दोनों ही सन्तों के पारम्परिक प्रतीकों से मुक्त थे और दोनों ने ही सन्तत्व या महात्मापन के अपने-अपने मानदण्ड रचे थे। कबीर तो स्वयं अपना सन्तत्व परिभाषित भी करते थे–

झोली, पत्र, विभूति न बटवा, अनहद बैन बजावे।
माँगि न खाय, न भूखा सोवे, घर-आँगन फिरि आवे।।

कबीर ने साधु बन कर कोई मधुकरी नहीं की, और गाँधी का वैष्णव तो कर्म और पीड़ा का ही वैष्णव था। दोनों की वाणी चरित्र के उस ताँती, चरखे या तकली पर कती-बुनी थी कि वाणी का वैसा जुलाहापन न कबीर के अपने काल से लेकर आज तक दिखाई पड़ता है या सुनाई पड़ता है और न गाँधी का वैसा जुलाहापन आजादी के बाद कहीं दिखाई या सुनाई देता है। कबीर की ताँती भी अब तो गायब है, और गाँधी का चरखा भी गायब। कबीर खुद रचते थे और गाते थे और गाँधी जो कबीर गा गये उसे प्रार्थना बनाते थे। कबीर कितने साफ थे अपनी बात में–

कथनी, करनी निजके जोहैं, ई सब अकथ कहानी।
धरती उलटि, अकासहिं बेधें, ई पुरसहिं की बानी।।

सन्त और महात्मा आम जन से अलग इसलिए होते हैं कि आम हदों को पार कर जाते हैं। वे अपनी आस्था और विश्वास को जन-आस्था और विश्वास में बदलते हैं। इसलिए वे अपने समय, समय के जन और समय के विचार की हदों से आगे निकल कर खड़े होते हैं। कबीर इस बात को इस प्रकार कहते थे–

हद में रहे सो मानवी, बेहद रहे सो साधु।
हद, बेहद दोनों तजे, तिनका मता अगाधु।।

हद, बेहद दोनों को तज कर जो व्यक्ति अगाध होता है, वह ब्रह्माण्ड हो जाता है। इस प्रकार कबीर और गाँधी ने हद, बेहद त्याग कर अपना ब्रह्माण्डीकरण कर लिया था जिसे आज की भाषा में वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण कहा जा सकता है। कितनी विचित्र बात है कि आज वस्तु का भूमण्डलीकरण तो चर्चित है, लेकिन व्यक्तित्व और विचार के भूमण्डलीकरण की बात कोई नहीं करता, चीजों के भूमण्डलीकरण पर तो चर्चा है, मगर चरित्र और आदर्श के भूमण्डलीकरण पर कोई संवाद नहीं। कबीर में हद, बेहद के त्याग से जो ब्रह्माण्डीकरण पैदा हुआ था, उसे अकेले गाँधी ने ही आज़माया, इसलिए गाँधी आज पुनर्जीवित किया जा रहा है। अगर वस्तु-युग में गाँधी विचार बन कर भूमण्डलीकरण होते हैं, तो वस्तु ही नष्ट होगी, विचार और मनुष्य नहीं, और यदि इसका उलटा हुआ तो वस्तु जाएगी और विचार और मनुष्य की मौत होगी कबीर ने जिस क्रान्ति को गढ़ा था, गाँधी ने उसे एक पूरे साम्राज्य पर मढ़ा। एक का औजार

ताँती था और दूसरे का तकली या चरखा। किसी भी सामाजिक और आध्यात्मिक क्रान्ति के लिए एक निःशस्त्रपन केवल कबीर और गाँधी में ही उतर सका था, जिसे मार्टिन लूथर किंग और नेल्सन मण्डेला ने भी आजमाया तो अवश्य, लेकिन कबीर की जिद और गाँधी के सत्याग्रह के समक्ष उनके आग्रहों में कहीं-न-कहीं टकराहट का भाव अवश्य था। दोनों ने ही गाँधी को आदर्श शायद इसीलिए माना था कि दोनों गाँधी से आगे नहीं जा पाये थे। गाँधी भले ही घोषित रूप से कुछ न कहते हों, मगर कबीर तो अपनी हर बात घोषित करते चलते थे–

हम वासी उस देस के जहं जाति बरन कछु नाहिं।
सबद मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहिं।।

कबीर की यह कल्पना भले ही आध्यात्मिक हो, मगर सबद से बाँधकर क्या कबीर ने साढ़े चार सौ साल पहले ही अमरीकी स्वतन्त्रता के घोषणा पत्र, या 1789 की फ्रांस की राज्य क्रान्ति के स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व के संकल्प और मार्क्स के सारे संसार के मजदूरों के एक हो जाने के आह्वान से आगे जाकर छह सौ साल पहले यह साबित नहीं कर दिया था कि सबद या शब्द ही वह शक्ति है जो भौतिकताओं के द्वन्द्व से मुक्ति का माध्यम बन सकता है। क्या इस तरह हम कबीर में अपने समय का एक संयुक्त राष्ट्र नहीं देखते, जो सारे संसार को सबद के साथ जोड़ कर एकाकार करना चाहता है?

कबीर और गाँधी, दोनों मूर्ति-पूजक या मूर्ति-उपासक सन्त नहीं थे। कबीर निरंकार में लीन थे, तो गाँधी कभी मन्दिर में नहीं गए। कबीर ने लोगों की आत्मा के मन्दिर के द्वार खुलवाने की वाणी रची, तो गाँधी ने वंचितों के लिए मन्दिर के द्वार खुलवाकर ईश्वर पर एकाधिकार समाप्त किया। दोनों अगर आस्तिक थे, तो राम, रहीम, ईश्वर-अल्लाह के भजन गाते थे और सबको सन्मति देने की प्रार्थना करते थे। दोनों अगर नास्तिक थे, तो पोथी, पत्रा, झोली, विभूति, कमण्डल, तिलक, माला, जप आदि सबको अस्वीकार करते थे। गाँधी जो शस्त्र से नहीं हो रहा था, उसे शास्त्र से कर रहे थे, और कबीर जो शास्त्र से नहीं हो सका था, उसे वाणी और कविता से कर रहे थे। कबीर तो एक प्रकार से ऐसे विद्रोही थे, जो अपने समय की हर लहर को तोड़ देना चाहते थे, और इसलिए हर बार वे कोई-न-कोई चुनौती रचते थे–

अम्बर बरसे, धरती भीजे यह जाणे सब कोई।
धरती बरसे अम्बर भीजे, बूझे बिरला सोई।।

गाँधी कहते भी थे, लिखते भी थे, लेकिन कबीर तो हमारी उस वाचिक परम्परा के ही प्रतीक थे, जो श्रुति बन कर हमारे अन्दर जीवित रहती है। वे कहते थे–

मैं कहता हाँ आँखन देखी
तू कहता कागद की लेखी।

या

लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।
दुलहा दुलहिन मिलि गए, फीकी परी बारात।।

कबीर वाणी से मनुष्य में परमतत्त्व के योग की स्थापना कर रहे थे, गाँधी कर्म या आचरण से मनुष्य में परम और चरम का उत्कर्ष देखना चाहते थे। कबीर जो बोलते थे, सारी दुनिया उसे लिखती थी, गाँधी जो लिखते थे, सारी दुनिया उसे बोलती थी और आज भी बोल रही है।

कबीर अपनी अध्यात्म-चेतना को भी अलग ढंग से ही आजमाते थे। परब्रह्म या अपरब्रह्म, ईश्वर आदि सबकुछ कबीर में है, लेकिन साथ ही राम, हरि, गोविन्द, केशव, माधव आदि पौराणिक नाम भी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, ''ये कदाचित् ही अवतार के अर्थ में कबीरदास ने व्यवहार किये हों।...पर वे जब अपने परम-उपास्य को इन नामों से पुकारते हैं, तो सचमुच अवतारों से उनका मतलब नहीं होता। उनका 'अल्लाह' अलख निरंजन देव है, जो सेवा से परे है, उनका 'विष्णु' वह है जो संसाररूप में विस्तृत है, उनका 'कृष्ण' वह है जिसने संसार का निर्माण किया है, उनका 'गोविन्द' वह है जिसने ब्रह्माण्ड को धारण किया है, उनका 'राम' वह है जो सनातन तत्त्व है, उनका 'खुदा' वह है जो दस दरवाजों को खोल देता है, 'रब' वह है जो चौरासी लाख योनियों का परवरदिगार है, 'करीम' वह है जो इतना सब कर रहा है, 'गोरख' वह है जो ज्ञान से गम्य है, 'महादेव' वह है जो मन को जानता है, 'सिद्ध' वह है जो चराचर दृश्यमान जगत् का साधक है, 'नाथ' वह है जो त्रिभुवन का एकमात्र यति या योगी है, जगत् के जितने साधक हैं, सिद्ध हैं, पैगम्बर हैं, वे एक ही पूजा करते हैं, अनन्त है इसके नाम, अपरम्पार है उसका स्वरूप। उनका राम निरंजन है, उसका रूप नहीं, रेखा नहीं, वह समुद्र भी नहीं, पर्वत भी नहीं, धरती भी नहीं, आकाश भी नहीं, सूर्य भी नही, चन्द्र भी नहीं, पानी भी नहीं, पवन भी नहीं, समस्त दृश्यमान पदार्थों से विलक्षण, सबसे न्यारा : (कबीर ग्रंथावली पृ. 299)। कबीर का यह विराट् अध्यात्म रवीन्द्रनाथ ठाकुर और हजारी बाबू ने प्रकट करके यह भी साबित किया है, कि कबीर का अध्यात्म एक व्यापक चेतना है, जो सूक्ष्म है तो अन्तर को आलोकित करती है, और स्थूल है, तो बाहर की आन्दोलित करती है। गाँधी की वैष्णवी चेतना भी लगभग ऐसी ही थी, जो अन्दर होती थी तो पीड़ा बन जाती थी, और बाहर आती थी तो प्रकाश हो जाती थी।

सम्भवतया विश्व के किसी साहित्य या वाङ्मय में छह सौ साल के अन्तराल में ऐसे दो समान जुलाहे और समान सन्त नहीं हुए। दोनों के अन्दर अपने-अपने सुकरात थे। कबीर के सुकरात को न कोई विष का प्याला देने की हिम्मत कर सका और न गोली मार सका। इसलिए कबीर का सुकरात छह सौ साल बाद भी सवालों की तरह, प्रश्नों और जिज्ञासाओं की तरह हमारे अन्दर भटक रहा है। गाँधी के सुकरात को गोली मार दी गई। यहाँ आकर कबीर और गाँधी में एक फर्क नज़र आता है। समाज इतना सहिष्णु होता है कि अपने पर हर हमला

सह लेता है, राजनीति इतनी असहिष्णु होती है कि वह कोई हमला सह नहीं सकती। इस दृष्टि से कबीर के सन्तत्व का काल अधिक समय काल था और गाँधी के सन्तत्व का काल अधिक बर्बर। एक ने जुलाहे का कर्म अपना कर सन्तत्व को सार्थक किया, तो दूसरे ने चरखे के चक्र पर अपने सन्तत्व की कताई की। कबीर में गाँधी की गन्ध थी और गाँधी में कबीर की वाणी। कबीर जुलाहे से सन्त और महात्मा होकर भी जुलाहे बने रहे और गाँधी को कोई घोषित जुलाहा न कहे, मगर उन्होंने जिस जुलाहेपन का स्वाभिमान देश के जन को दिया, उससे खादी और गाँधी एक हो गये। एक ताँती का जुलाहा था, दूसरा चरखे का जुलाहा। एक पन्द्रहवीं सदी का इक्कीसवी सदी में प्रवेश करता सन्त और दूसरा बीसवीं सदी से पन्द्रवीं सदी के सन्त के साथ इक्कीसवीं सदी में विचार बनता सन्त। भारतीय मनीषा की यह योग-संज्ञा कबीर और गाँधी में जिस प्रकार प्रतिफलित हुई, वैसी सम्भवतया विश्व में अन्यत्र दुर्लभ है।

एस.एच.19, ब्लॉक-8
सहयाद्रि परिसर, भदभदा रोड
भोपाल-462003

डॉ. हरीसिंह गौर का धार्मिक दृष्टिकोण एवं बौद्ध धर्म

- बी.के. श्रीवास्तव

कैम्ब्रिज में दर्शनशास्त्र के विश्वविख्यात दार्शनिक हेनरी सिजविक हरीसिंह गौर के शिक्षक रहे थे।[1] 'उन्होंने कहा कि हरीसिंह गौर की गिनती बहुत गम्भीर से गम्भीर चिन्तकों में की जा सकती है। किसी भी धर्म के संदर्भ में उनकी पक्षपातपूर्ण धारणा नहीं थी। धर्म सम्बन्धी उनके ज्ञान की बराबरी का दूसरा कोई व्यक्ति नहीं था।'[2]

सागर विश्वविद्यालय के संस्थापक डॉ. हरीसिंह गौर (1870-1949 ई.) की दर्शन में गहरी रूचि थी। नागपुर के हिसलप कालेज में प्रोफेसर ब्रेमनर जैसे धर्म एवं दर्शन के सर्वश्रेष्ठ शिक्षक ने उन्हें दर्शनशास्त्र पढ़ाया था।[3] कैम्ब्रिज में उन्हें हेनरी सिजविक का सानिध्य मिला। नागपुर में प्रो. ब्रेमनर प्रतिदिन आधा घंटा बाइबिल पढ़ाते थे। साथ ही अन्य धर्मग्रंथों पर भी विचार-विमर्श करते थे।[4] इससे हरीसिंह गौर को सभी धर्मों के विषय में जानने-समझने का मौका किशोरावस्था से ही मिला।

डॉ. गौर ने धर्म संबंधी विचार यत्र-तत्र प्रसंगवश अपनी आत्मकथा में व्यक्त किये हैं। उन्होंने अपने धर्म संबंधी विचारों की अभिव्यक्ति 'रेशनलइज्म एण्ड रिलीजन' पुस्तक में भी व्यक्त की है। इस पुस्तक के रिव्यू में जो प्रतिक्रिया थी वह यह थी कि– 'यह पुस्तक केवल तर्क ही तक थी, जिसमें धर्म नहीं है, परन्तु यह पूर्णरूपेण तर्क ही नहीं है, एक सच्चा धर्म भी है।'[5]

डॉ. हरीसिंह गौर धर्म के मानवतावादी दृष्टिकोण के समर्थक थे। उनके अनुसार मानव का ईश्वर से संबंध एवं सामाजिक नैतिक धारणायें दो भिन्न पहलू हैं। व्यवहार में मनुष्य दोनों को मिलाकर युद्ध स्तर पर समाज को किलेबन्द करता आ रहा है। कुछ लोग समाज के नैतिक आदर्श को धर्म कहते हैं तो कुछ लोग धार्मिक विधी विधान एवं नियमों के पालन को धर्म मानते हैं। इन्हीं के द्वारा वे मनुष्य का संबंध ईश्वर के साथ स्थापित करना चाहते हैं। हिन्दु, मुस्लिम, सिख आदि जातियों ने अपने धार्मिक रीति-रिवाजों एवं सामाजिक ताने-बाने की एक प्राचीर अपने इर्द-गिर्द खड़ी कर ली है। डॉ. गौर का कहना था कि यह ठीक नहीं है, सभी समुदायों को अपना प्राचीर रहित अस्तित्व कायम करना चाहिए ताकि आपसी सौहार्द बना रहे।[6]

डॉ. गौर ने व्यक्तिगत् रूप से ईश्वरवादी थे। ईश्वर के अस्तित्व पर उनका विश्वास था। उनका कहना था कि सामाजिक नैतिकता वह धर्म है जिसमें मनुष्य प्रसन्न रह सकता है साथ ही वे इस नैतिकता की उपयोगिता के समर्थक थे।[7]

डॉ. हरीसिंह गौर यह भी मानते थे कि मृत्यु के पश्चात् हम जहाँ जाते हैं वहां अपने उन लोगों से मिल सकते हैं जिनकी हमसे पहले मृत्यु हो चुकी थी। डॉ. गौर को अपनी प्यारी बहिन मोहन की याद हमेशा आती रहती थी। 1942 में जब वह अपनी आत्मकथा लिख रहे थे उस समय उनकी छोटी बहिन की मृत्यु हुये 60 वर्ष बीत चुके थे। डॉ. गौर ने अपनी बहिन की याद करते हुये लिखा था– 'मुझे अपनी मौत से कम से कम इतनी तसल्ली तो मिलेगी कि इससे मुझे अपनी बहिन से मिलने का मौका मिलेगा।'[8]

डॉ. हरीसिंह गौर के पास पुस्तकों का विशाल भण्डार था। उन्हें बचपन से ही पुस्तकों को पढ़ने का अत्यन्त शौक था। उन्हें लोगों से मिलना-जुलना उतना पसंद नहीं था जितना कि किताबें पढ़ना पसंद था। इसीलिए कहा जाता था कि वे सामाजिक नहीं हैं, वे किताबी कीड़ा हैं। यह उनके लिये उनकी आलोचना न होकर उनके लिये प्रशंसा ही थी। उनका कोई मित्र भी नहीं था। पुस्तकें ही उनकी सबसे बड़ी मित्र थीं। पुस्तकों में ही उनका संसार सिमटा हुआ था। उनकी जिन्दगी किताबों से शुरू होकर किताबों पर ही समाप्त होती थी।

वर्तमान में विश्व कोरोना महामारी के कारण लॉकडाउन के संकट से जूझ रहा है। इस अवसर पर केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री रमेश पोरखरियाल निंशक ने 24 अप्रैल 2020 को विश्व पुस्तक दिवस के अवसर पर ट्विटर पर 'My book My friend' अभियान शुरू किया। उन्होंने कहा कि किताबों से बेहतर दोस्त, बेहतर ताकत, बेहतर प्रेरणा देने वाला और बेहतर मार्गदर्शक कोई भी नहीं हो सकता। यह बात डॉ. हरीसिंह गौर भली-भांति जानते थे।

डॉ. गौर ने अपने अध्ययन में विश्व के प्रायः सभी धर्म ग्रंथों का अध्ययन किया था। इन समस्त धर्मों में अन्तर्निहित विचारों का उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन किया था। इस तुलनात्मक अध्ययन में उन्हें बौद्ध धर्म श्रेष्ठ लगा। उन्होंने लिखा है–'मेरे विचार से सम्प्रदायवाद, जातिवाद व राष्ट्रीयता सभी स्वहित पूर्ति की संकीर्ण अवधारणा का परिणाम है, जिसका सभी धर्म, सिवाय बौद्ध धर्म को छोड़कर समर्थन करते हैं। बौद्धधर्म ने इस अवधारणा पर आघात किया तथा सभी जीव-चेतनाओं तक अपने दायरे को फैलाया। मैंने बौद्ध धर्म व इसके गूढ दर्शन को पढ़ा और इस विषय पर अपने शोध को 'द स्प्रिट ऑफ बुद्धिज्म' के शीर्षक से प्रकाशित किया।'[9] 1929 ई. में महात्मा गांधी ने इस कृति की यह कहकर प्रशंसा की कि – 'यह अपने विषय का अब तक का सबसे बड़ा ग्रंथ है।'[10] इस ग्रन्थ में बौद्ध दर्शन की गम्भीर एवं तार्किक विवेचना प्रस्तुत की गई है। बौद्ध धर्म मानने वाले देशों में इस पुस्तक को काफी प्रतिष्ठा मिली। जापान सरकार के आमंत्रण पर जब डॉ. हरीसिंह गौर वहाँ गये तब वहाँ उनका

'धर्म गुरु' के रूप में सम्मान हुआ।[11] बौद्ध चिन्तक एवं जापान के लोग उन्हें 'सेकेण्ड बुद्धा' तक कहने लगे।

यह भारतीय मनीषियों के लिये अत्यन्त ही गौरव की बात है कि महापंडित राहुल सांकृत्यायन (1893-1963) एवं डॉ. हरीसिंह गौर (1870-1949) ने बौद्ध धर्म की पताका को विश्व स्तर तक फैलाया। बौद्ध धर्म के तीनों पिटकों के बृहत् ज्ञान को देखते हुए श्रीलंका ने विद्यालंकार विहार ने राहुल सांकृत्यायन को 3 सितम्बर 1928 को 'त्रिपिटकाचार्य' की उपाधि प्रदान की थी।[12] त्रिपिटकाचार्य की उपाधि बौद्ध धर्म के तीनों पिटक सुत्त पिटक, विनय पिटक एवं अभिधम्म पिटक में व्युत्पन्न मेधावी विद्वान को प्रदान की जाती थी।[13] इस तरह भारतीय विद्वानों को 'सेकेण्ड बुद्धा' एवं 'त्रिपिटकाचार्य' जैसी उपाधियाँ मिलना गौरव की बात थी।

डॉ. गौर ने दो प्रकार के कष्टों का उल्लेख किया है। एक प्रकृति प्रदत्त कष्ट जो कि बीमारी, बुढ़ापा, रोग एवं मृत्यु है, दूसरे मानव अवस्था प्रदत्त कष्ट -ईर्ष्या, बदला, झगड़ा, भूख, गरीबी, लालच, पारिवारिक कलह व झगड़े हैं। हिन्दु एवं बौद्ध धर्म दोनों का मानना है कि जीवन में आनन्द कम एवं नाम मात्र का है जबकि दुःख ज्यादा स्थायी है। हिन्दु धर्म में प्रकृति प्रदत्त कष्ट एवं मानव प्रदत्त कष्ट दोनों का ही समाधान आत्मनिग्रह अर्थात् संयम को माना है। इसके द्वारा शरीर कष्ट सहने का आदी हो जाता है।[14] इसके विपरीत बौद्ध धर्म ने इन दोनों प्रकार के कष्टों का निवारण आत्म नियंत्रण, आत्म त्याग में माना है। बुद्ध के अनुसार इस तरह की समस्याओं का समाधान मानव संसाधनों एवं भाईचारे द्वारा असरदार संघर्ष करके किया जा सकता है। डॉ. गौर ने लिखा है कि ईसाइयत को भी युद्ध एवं कलह के लम्बे दौर से गुजरना पड़ा था। कहा भी गया है कि ईसामसीह के चर्च उनके शहीदों के खून से बने हैं। इस प्रकार ईसाइयत एवं बौद्ध दोनों ही धर्म विश्वबंधुत्ववादी हैं। दोनों के सम्मिलन एवं एकीकरण में विश्वधर्म के सपने की झलक दिखती है।[15]

डॉ. हरीसिंह गौर ने गौतम बुद्ध, बौद्ध धर्म एवं उसकी शिक्षाओं पर अपने लेखन में व्यापक प्रकाश डाला है। उन्होंने बौद्ध धर्म को मात्र एक धर्म न मानकर उसे जीवन दर्शन माना है। बौद्ध धर्म की कई शिक्षाओं को हम डॉ. गौर के जीवन में आत्मसात हुआ देख सकते हैं। जब भारतीय वैदिक धर्म में आड्म्बर, कुरीतियां, कर्मकाण्ड की अधिकता हुई तब मनुष्य को इनसे बचाने एवं उसके कल्याण के लिये 600 ई.पू. गौतम बुद्ध ने बौद्ध धर्म की स्थापना की। गौतम बुद्ध जिनका कि मूल नाम सिद्धार्थ था, का जन्म कपिलवस्तु के लुम्बनी गॉव में 563 ई. पू. हुआ था। उन्होंने 29 वर्ष की आयु में गृह त्याग दिया एवं निरंजना नदी के किनारे पीपल वृक्ष के नीचे घोर तपस्या कर ज्ञान प्राप्त किया।[16]

डॉ. गौर के अनुसार बौद्ध धर्म की स्थापना भारत को एकजुट करने के लिये हुई थी ताकि सभी लोग सहयोग व एकता के सूत्र में बंध जायें। राहुल सांकृत्यायन के मित्र भदन्त आनन्द कोसल्यायन ने बौद्ध धर्म की विशेषतायें निम्न बताई हैं–

1. बौद्ध समाज के सभी सदस्य परस्पर एक-दूसरे को समान मानते हैं।
2. सभी को शिक्षा प्राप्त करने की समान स्वतंत्रता है।
3. सभी सदस्यों को कोई भी पेशा करने की स्वतंत्रता है।
4. बौद्ध समाज में स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार रहे हैं।

इस तरह बौद्ध धर्म वर्णाश्रम धर्म की बेढ़ियों से सर्वथा मुक्त रहा है।[17] बौद्ध धर्म की प्रमुख आधारशिला, मानव का मानव के साथ प्रेम-व्यवहार है।[18] बौद्ध धर्म की इसी समानता के सिद्धांत के कारण डॉ. गौर का झुकाव उसकी ओर हुआ।

डॉ. हरीसिंह गौर बताते हैं कि ईसाई धर्म का मूल 'सरमन ऑन द माउण्ट' से करीब से जुड़ा हुआ था और ऐसा माना जाता है कि वह बुद्ध के सारनाथ उपदेश से प्रेरित था। दोनों में यही अन्तर था कि ईसाई धर्म के मुताबिक अच्छे कर्मों का प्रतिफल किसी के द्वारा दिया जाना था जबकि बौद्ध धर्म के मुताबिक अच्छे कर्म स्वयं ही प्रतिफल थे।[19]

ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त सारनाथ में दिया गया पहला उपदेश धर्म चक्र पर्व प्रवर्तन कहा गया है।[20] बुद्ध ने कहा कि– 'जब आप अपने आप पर अपनी इच्छाओं पर विजय पा लेंगे तभी आप काम-तृणा से मुक्त होंगे। तब आपको काम भोग की कामना नहीं रहेगी। तब प्राकृतिक इच्छाओं की पूर्ति विकार पैदा नहीं करेगी। आपको चाहिए कि आप अपनी शारीरिक आवश्यकताओं के हिसाब से खाना-पीना ग्रहण करें। सभी प्रकार की काम-वासना उत्तेजक होती है। कामुक अपनी कामवासना का गुलाम होता है। सभी काम भोगों के चक्कर में पड़े रहना गंवारपन और नीच कर्म है। लेकिन मैं तुम्हें कहता हूँ कि शरीर की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में बुराई नहीं है। शरीर को स्वस्थ बनाये रखना एक कर्तव्य है। अन्यथा तुम अपने मनोबल को दृढ़ बनाये न रख सकोगे और प्रज्ञारूपी प्रदीप भी प्रज्जवलित न रह सकेगा।'[21]

डॉ. हरीसिंह गौर ने बुद्ध के इस उपदेश पर अमल किया। शरीर को स्वस्थ बनाये रखना उन्होंने अपना कर्त्तव्य मान लिया। एस.ए. राघो ने लिखा है– 'वे अल्पाहार लिया करते थे, अपने दैनिक कार्य नियमित रूप से करते थे तथा उन्हें सप्रयास (प्रयासों द्वारा) अपनी आदत बना लिया था। व्यायाम भी वे थोड़ा करते थे इस कारण वे कभी बीमार नहीं पड़े थे। इसलिए वे दीर्घजीवी भी हुये। किताबी कीड़ा कहे जाने और इतनी अधिक किताबों को पढ़ते-लिखते रहने के बावजूद भी लोगों को यह देखकर आश्चर्य होता था कि इनका कुप्रभाव उनके स्वास्थ्य और नेत्रों पर नहीं पड़ा।'[22]

बुद्ध अनीश्वरवादी थे एवं आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते थे। इसके बावजूद पुनर्जन्म में उनकी आस्था थी। बुद्ध ने कहा था एक अच्छा इन्सान बनना सबसे बड़ा धर्म है। 'कोई भी आदमी जो अच्छा बनना चाहता है उसके लिये आवश्यक है कि वह अच्छाई माप-दण्ड स्वीकार करे। मेरे पवित्रता के पथ के अनुसार अच्छे जीवन के पाँच मापदण्ड हैं'[23]–

1. किसी प्राणी की हिंसा न करना अर्थात् किसी का दिल न दुखाना।
2. चोरी न करना, दूसरे की वस्तु पर अपनी नीयत न लगाना।
3. व्यभिचार न करना।
4. असत्य न बोलना।
5. मद्यपान न करना अर्थात् नशीली चीजों को ग्रहण न करना।

बुद्ध ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए इन पाँच शीलों को अपनाना परमावश्यक माना। डॉ. गौर ने लिखा है कि यह पंचशील, ईसाई धर्म के टेन कमान्डमेंट (दस आज्ञाओं) के पूर्ववर्ती थे।[24] कहा जाता है कि धार्मिक नेता मूसा को सीनाई पर्वत के ऊपर यह 10 धर्मादेश स्वयं ईश्वर ने दिये थे। यह इस प्रकार थे–

1. तुम मेरे अलावा किसी अन्य देवता को नहीं मानोगे।
2. तुम मेरी किसी तस्वीर या मूर्ति को नहीं पूजोगे।
3. तुम प्रभु अपने ईश्वर का नाम अकारण नहीं लोगे।
4. सैबध (यहूदी मान्यता के अनुसार हफ्ते का सातवां दिन) का दिन याद रखना। इसे पवित्र रखना।
5. अपने माता-पिता का आदर करना।
6. हत्या नहीं करना (हिंसा नहीं करना)।
7. तुम किसी से नाजायज शारीरिक संबंध नहीं रखोगे।
8. तुम चोरी नहीं करोगे।
9. तुम झूठी गवाही नहीं दोगे (असत्य नहीं बोलोगे)।
10. तुम दूसरों की चीज ईर्ष्या से नहीं देखोगे (दूसरों के पास जो कुछ है, उसकी लालसा नहीं करना)

चूँकि गौतम बुद्ध का समय इन धर्मादेशों के पूर्व का है। इस धर्मादेश में गौतम बुद्ध के पाँचो शील शामिल है। इसीलिए डॉ. गौर ने बुद्ध की शिक्षाओं को पूर्ववर्ती कहा है एवं 'सरमन ऑन द माउंट' को बुद्ध के धर्म चक्र प्रवर्तन (सारनाथ उपदेश) से प्रेरित कहा है।

डॉ. गौर के अनुसार जिन्दगी की बुराइयों को अच्छे विचारों एवं अच्छे कर्मों द्वारा समाप्त किया जा सकता है। पृथ्वी पर न तो स्वर्ग है और न ही नरक। बस एक ही सत्य है वह है निर्वाण, जिसका अर्थ है मानसिक शांति, इच्छा एवं उससे संबंध कष्ट से मुक्ति। बुद्ध ने निर्वाण शब्द को परम आनंद मोक्ष से जोड़ा है, जिसे सम्यक कर्म, आत्मानुशासन, आत्म नियंत्रण से प्राप्त

किया जा सकता है। डॉ. गौर बताते हैं कि निर्वाण शब्द की उत्पत्ति 'निरवन' शब्द में हुई है, जिसका अर्थ होता है उड़ा देना। अर्थात् निर्वाण का तात्पर्य अपने कर्म एवं विचारों से स्वार्थपरता को उड़ा देना।[25] शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से निर्वाण का अर्थ है बुझ जाना।[26] एक बार राध स्थविर ने भगवान बुद्ध से पूछा कि भगवान निर्वाण क्या है? बुद्ध ने उत्तर दिया— रागाग्नि, द्वेषाग्नि एवं मोहाग्नि का बुझ जाना ही निर्वाण है। निर्वाण ही हमारा उद्देश्य है एवं निर्वाण ही हमारा लक्ष्य है।[27] अष्टांगिक मार्ग का ही दूसरा नाम निर्वाण है।[28] श्रेष्ठ जीवन निर्वाणाश्रित है।[29]

डॉ. हरीसिंह गौर ने लिखा है कि गौतम बुद्ध जिन्दगी के संघर्ष एवं कष्ट का मूल कारण अहम भाव को मानते थे। अहम, अहम, अहम सारे ब्रह्माण्ड में बसा है। बुद्ध का कहना था कि अगर हम इसे अलग नहीं कर सकते तो हमें चाहिए कि हम इस पर नियंत्रण स्थापित कर लें।[30] नियंत्रण हम तब स्थापित कर पायेंगे जबकि यह जान लेंगे कि आखिर अहम् यानि कि अहंकार है क्या? वस्तुतः अतीत की स्मृतियाँ एवं भविष्य की आशाओं की गठरी अहंकार कहलाती है। अहंकारमय जीवन का अर्थ है, मृतक्षणों की शमशान भूमि अथवा काल के गर्भ में रहना जहाँ अनुत्पन्न भविष्य स्थित है।' अतीत मृत हो चुका है, भविष्य अभी अनुत्पन्न है, अतः हमें यथा संभव वर्तमान में स्थिर रहना चाहिये अहम् हमें वर्तमान में रहने से रोकता है।'[31]

डॉ. हरीसिंह गौर का कहना था कि इन्सान को महत्वाकांक्षाओं से दूर रहना चाहिए। गौतमबुद्ध का उद्देश्य था कि मानव एक आसान एवं बेहतर जिन्दगी जिये। इसीलिए उन्होंने अपनी शिक्षाओं में ये अवधारणायें समाहित की— 'चार आर्य सत्य एवं अष्टांगिक मार्ग। इसमें प्रथम आधारभूत है एवं द्वितीय व्यक्तिपरक।'[32]

चार आर्य सत्य —

1. दुःख — जीवन एक दुःख है, जन्म दुःख है, आयु दुःख है, रोग दुःख है, मृत्यु दुःख है, अप्रिय से संपर्क दुःख है, प्रिय से विछोह दुःख है, प्रत्येक अतृप्त इच्छा दुःख है।

2. दुःख कारण — प्रत्येक दुःख का कोई न कोई कारण है। दुखों का कारण तृष्णा है। तृष्णा से राग एवं आसक्ति उत्पन्न होती है जो दुःख का कारण बनती है।

3. दुःख निरोध — तृष्णा को समाप्त कर दुःख से निवारण पाया जा सकता है। इस पिपासा को पूर्वतः रोक देना है जिससे कोई वासना शेष न रहे।

4. दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा - एक ऐसा मार्ग है जिस पर चलकर व्यक्ति दुःखों से दूर रह सकता है। इसे दुख निरोध मार्ग भी कहा जाता है यह है अष्टांगिक मार्ग।[33]

अष्टांगिक मार्ग —

1. सम्यक दृष्टि : अविधा के कारण हम यथार्थ दृष्टि के स्थान पर मिथ्या दृष्टि में बंध जाते हैं। अविधा का विनाश ही सम्यक दृष्टि है। सम्यक दृष्टि का अर्थ है मनुष्य का मन एवं विचार स्वतंत्र हो।

2. सम्यक संकल्प : हमारी आशायें हमारी आकांक्षायें ऊंचे स्तर की हो, निम्न स्तर की न हो। हमारे योग्य हों, अयोग्य न हों।

3. सम्यक वाणी : हम सत्य बोलें, बुराई न करें, किसी के बारे में झूठी बातें न फैलायें, कठोर वचन न बोलें, मीठे वचन बोलें, व्यर्थ एवं मूर्खतापूर्ण बातें न करें। हमारी वाणी बुद्धि संगत हो, सार्थक हो एवं उद्देश्यपूर्ण हो।

4. सम्यक कर्म : दूसरों की भावनाओं एवं अधिकारों का ख्याल रखते हुए कर्म करें। हमारे कर्म से दूसरों को नुकसान न पहुंचे।

5. सम्यक आजीव : ईमानदारी से बिना किसी को हानि पहुंचाये हमें अपनी आजीविका चलाना चाहिये।

6. सम्यक व्यायाम : सम्यक व्यायाम के चार उद्देश्य हैं –

(1) अष्टांग मार्ग विरोधी चित्त प्रवृत्तियों को रोकना।

(2) अष्टांग मार्ग विरोधी जो चित्त प्रवृत्त्यिाँ उत्पन्न हो चुकी हैं, उन्हें दबाना।

(3) ऐसे चित्त प्रवृत्तियों को उत्पन्न करने के प्रयास करना जो अष्टांगिक मार्ग की पूर्ति में सहायक हों।

(4) ऐसी उत्पन्न चित्त प्रवृत्तियों में और अधिक वृद्धी करना तथा उनका निरंतर विकास करना।

यह सम्यक व्यायाम सतत् हमारे अन्दर चलता रहना चाहिए।

7. सम्यक स्मृति : हमारे मन में कोई ऐसा विचार न उठे जो अष्टांगिक मार्ग पर चलने में बाधक हो। ऐसे विचारों की सतत् चौकीदारी करना सम्यक स्मृति है। जैसे कम्प्यूटर को वायरस से बचाने के लिये हम एन्टीवायरस रूपी चौकीदार डालते हैं, उसी प्रकार एक एन्टीवायरस हमें अपनी बुद्धी में भी रखना चाहिए। हम किससे मिलें, क्या देखें, क्या खायें, क्या सुनें, इस सबकी सतत् चौकीदारी करनी होगी ताकि कोई भी गलत विचार हमारे अन्दर प्रवेश न कर सके। यही सम्यक स्मृति है।

8. सम्यक समाधि : बुद्ध कहते हैं– जो आदमी सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वाणी, सम्यक कर्म, सम्यक आजीविका, सम्यक व्यायाम एवं सम्यक स्मृति को प्राप्त करना चाहता है उसके मार्ग में पाँच बाधायें– लोभ, द्वेष, आलस्य, विचिकित्सा (बीमारी) तथा अनिश्चय की स्थिति आती है। इन पाँच बाधाओं पर विजय प्राप्त करना ही सम्यक समाधि है। एकाग्रता के साथ चित्त में स्थायी परिवर्तन (शांति) लाना ही सम्यक समाधि है। सम्यक समाधि मन को कुशल और हमेशा कुशल ही कुशल सोचने की आदत डाल देती है। सम्यक समाधि मन को वह अपेक्षित शक्ति देती है जिससे आदमी कल्याणरत् रहता है।[34]

इस अष्टांग मार्ग का अनुसरण कर व्यक्ति सदैव सुखी रह सकता है।

डॉ. हरीसिंह गौर ने लिखा है कि– 'गौतम बुद्ध की शिक्षायें मूलतः धर्म निरपेक्ष थी। अपने शिष्यों के सम्मान की खातिर उन्होंने हिन्दु धर्म के जीवन की उत्पत्ति का सिद्धांत स्वीकार किया था।'[35] इनके इर्द-गिर्द एक दैवीय प्रभा मण्डल था। बुद्ध व जीसस जैसे समाज सुधारक बिना दैवीय प्रभा मण्डल के इतनी अधिक लोकप्रियता हासिल नहीं कर सकते थे। जब बुद्ध के अनुयायिओं ने बुद्ध पर भगवान होने की अवधारणा थोपने का प्रयास किया तब बुद्ध ने इन अंध-विश्वासों एवं पूजा को उतना ही मूल्यहीन बताया, जितना ऐसी धारणा वाले अपने अनुयायिओं को।[36]

जिन्दगी की बुराइयों को केवल अच्छे विचारों एवं कर्मों द्वारा खत्म किया जा सकता है। अष्टांगिक मार्ग सुखद जीवन जीने का सर्वोत्तम मार्ग है। इसमें सम्यक कर्म पर विशेष बल दिया गया है। कर्म, कर्म और श्रेष्ठ कर्म। श्रेष्ठ कर्मों द्वारा हम अपना वर्तमान सुधार सकते हैं।

डॉ. हरीसिंह गौर ने बौद्ध धर्म के विभाजन पर लिखा है– 'आत्म खोजियों की दुनिया के हिसाब से बौद्ध धर्म के उपदेश एक ऊंची चढ़ाई थे। अतः बुद्ध की मृत्यु के तुरन्त बाद एक योजना बनाई गई कि बौद्ध धर्म की शिक्षाओं में सुधार किया जावे जिससे उसकी संगति ब्राह्मण धर्म के सिद्धांतों से बैठ जाये। इस अवधारणा के परिणाम स्वरूप बौद्ध धर्म की नई शाखा महायान अस्तित्व में आयी। चीन एवं जापान में बौद्ध धर्म के स्थानीय बदलाव समाहित कर लिये गये। श्रीलंका एवं वर्मा जैसे देशों ने बौद्ध धर्म के मूलरूप को ही स्वीकार किया, जो हीनयान कहलाया।'[37] डॉ. गौर ने कहा है कि परिवर्तन जीवन का शाश्वत् नियम है। कोई भी चीज एक समान नहीं रहती। जिस तरह बौद्ध धर्म का महायान एवं हीनयान दो शाखाओं में समयानुकूल विभाजन हुआ अन्य धर्म भी इससे अछूते नहीं रहे। ईसाइयत ने भी बौद्ध धर्म की तरह दो फाड़ होने में ज्यादा वक्त नहीं लगाया। उन दो शाखाओं के मूल प्रचारक सेंट जॉन तथा सेंट मैथ्यू थे। वस्तुतः मानव एक सरल धर्म चाहता है। निराकार ब्रह्म की कल्पना सामान्य मनुष्य के लिये संभव नहीं है। पूर्वजन्म की अवधारणा में आत्मा का अस्तित्व आवश्यक है। बिना भगवान, बिना आत्मा के अस्तित्व के स्वर्ग और नर्क में पुरुस्कार व दण्ड मिलना धर्म के अपरिपक्व रूप को दर्शाता है, लेकिन यही एकमात्र धर्म था। आम आदमी जो आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के पर्वत के शिखर तक नहीं पहुँच सकता था, के लिये ईश्वर की अवधारणा ने मध्यस्थ का काम किया।

महायान सम्प्रदाय ने ईश्वर, आत्मा व मानव जीवन की नियति के विषय में हिन्दु धर्म की स्थापित व्याख्याओं को अपना लिया। हिन्दु धर्म के अनुसार भगवान एक अवैयक्तिक आत्मा है, जो ब्रह्माण्ड में सर्वव्यापी है व सर्वशक्तिशाली है जिसे सम्पूर्ण भी कहते हैं, सम्पूर्ण यानि सबकुछ उसी में समाहित है उसके बाहर कुछ भी नहीं है।... जब आत्मा इस जन्म-मरण के

बंधन से मुक्त हो जाती है तो वह पुनः ब्रह्म में समा जाती है। ब्रह्म ही जगत और उसकी सारी रचनाओं का आदि व अन्त है। डॉ. गौर ने लिखा है कि– 'ब्रह्म के अन्दर सार्वत्रिक आत्मा, परम् आनन्द का स्थान है, जहाँ मुक्त आत्मा कमल के फूल के शिखर पर सुप्त आसन में बैठी रहती है जिसका महायान संप्रदाय ने विस्तृत आकर्षक चित्र खींचा है, वह उस वर्णन से भी ज्यादा आकर्षक है जो न्यू जेरुसलम में सेंट जोंस के गॉस्पिल में वर्णित है।'[38]

डॉ. गौर लिखते हैं कि बाद में बौद्ध धर्म में लोट्स सूत्र भी अस्तित्व में आया। बौद्ध धर्म में बाद में तंत्र-मंत्र भी आ गये। रोगों एवं बुरी आत्माओं से सुरक्षा के लिए, अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति के लिये, पुत्र की प्राप्ति के लिये, व्यापार में सफलता के लिए कुछ जादुई मंत्रों को शामिल किया गया। डॉ. गौर यहां यह भी बताते हैं कि चीन में इनका आकर्षण, शत्रुओं को नुकसान पहुंचाने के लिये व हत्या कराने के लिये साधन के रूप में था।[39]

आज समस्त विश्व कोरोना महामारी की विभीषिका से जूझ रहा है। विश्व के अधिकांश देशों एवं अधिकांश लोगों का मानना है कि यह महामारी चीन के बुहान नगर से फैलना आरम्भ हुई। चीन यदि चाहता तो इस विश्व को इस महामारी की चपेट में आने से बचा सकता था। मगर लोगों को नुकसान पहुंचाना, हत्या कराना उसकी नियति रही है। उसकी इसी अमानवीय विचारधारा का नुकसान आज सारा विश्व उठा रहा है। लाखों की संख्या में लोग प्रतिदिन महामारी से मर रहे हैं। इस दृष्टि से देखें तो लगता है कि डॉ. हरीसिंह गौर ने चीन की फितरत के बारे में उचित ही लिखा था।

जापान में महायान संप्रदाय दो पक्षों में विभाजित हो गया– शिन और झेन। इनमें से एक श्रद्धा पर आधारित था, जबकि दूसरा जो कुलीन वर्गीय था वह ध्यान पर आधारित था। शिन सम्प्रदाय को जापान में भारी जनसमूह ने अपनाया यहाँ 'जोड़ों से' बड़े करीब से जुड़ा था, जहां दो तिहाई जनता उसकी अनुयायी थी।[40]

डॉ. गौर ने धर्मों में हो रहे विभाजन एवं उनकी शिक्षाओं में हो रहे परिवर्तनों पर लिखा है कि – 'अगर इन धर्मों के संस्थापक एक बार फिर पृथ्वी पर लौट आयें तो यह देखकर दंग रह जायेंगे कि उनकी सरल शिक्षाओं को किस हद तक बढ़ा-चढ़ा दिया गया है व उनमें कैसी-कैसी कॉट-छॉट की गई है। लेकिन कोई भी धर्म बिना हेर-फेर और बदलाव के समय की कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता है क्योंकि लोगों की इच्छायें उतनी विविधतापूर्ण होती हैं जितनी दुनिया भर में रहने वाले लोगों के रीति-रिवाज और परम्परायें। किसी भी धर्म का उपयोगितापूर्ण अध्ययन उसके मूल उद्देश्य जिसकी पूर्ति के लिये यह अस्तित्व में आया है व उसके समकालीन लोगों के जीवन और इतिहास की पृष्ठभूमि को जाने बिना नहीं किया जा सकता।'[41] इस तरह डॉ. गौर ने विभिन्न धर्मों के विभाजन एवं शिक्षाओं में परिवर्तन को युग की पुकार के रूप में स्वीकार किया।

डॉ. हरीसिंह गौर बौद्ध धर्म को मानते थे, परन्तु एक अध्ययनशील व्यक्तित्व होने के कारण उन्होंने अन्य धर्मों का भी तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया था। उनके लेखन में भी विभिन्न धर्मों की तुलनात्मक विवेचना यत्र-तत्र प्रसंगवश स्पष्टतः परिलक्षित होती है। वो लिखते हैं कि जैसे बौद्ध धर्म की स्थापना भारत को एकजुट करने के लिए हुई थी ताकि इसमें सभी लोग परस्पर सहयोग एवं एकता के सूत्र में बंध जायें। जबकि जीसस का उद्देश्य फिलीस्तीन की श्रद्धा के सम्मिलन तक सीमित था, जिनको वे रोमन और यहुदियों के युग्म के खिलाफ खड़ा करना चाहते थे। उन्होंने अपनी शिक्षाओं को महिमामण्डित याचनाओं के रूप में प्रस्तुत किया। आज की ईसाइयत जीसस की शिक्षाओं की मूल पहचान नहीं है। अगर हम इस पर अब तक जमा हुई परतों को खोलना शुरु करें तो हम पायेंगे कि क्रूसीफिकेशन व ईसामसीह की शिक्षाओं के संकलन के समय इस पर किस तरह साज-सज्जा का मुल्मा चढ़ाया जाता रहा। तब तक भगवान की एक व्यक्ति के समान होने की यहूदी अवधारणा अदृश्य नहीं हुई थी। सेंट पाल ने जीसस की व्याख्या करते हुए उन्हें 'अनदेखे भगवान की छवि' बताया। कहा जाता है कि जीसस ने स्वयं कहा था – 'जिन्होंने मुझे देखा है, उन्होंने अपने पिता को देखा है।'[42] इसलिये डॉ. गौर ने लिखा है कि जहां तक भगवान का संबंध है उनके बारे में हिन्दु व यहूदियों का दृष्टिकोण बिल्कुल अलग है।'[43] वह यह भी लिखते हैं कि बौद्ध धर्म एवं ईसाई धर्म एक-दूसरे से अधिक अतरंगता महसूस कर सकते हैं। इन दोनों में से बौद्ध धर्म ईसाई धर्म से ज्यादा आधुनिक है।'[44]

डॉ. हरीसिंह गौर धर्म को मानते थे, ईश्वर पर उनकी आस्था थी मगर चुँकि एक महान दार्शनिक थे अतः तर्काधारित चिंतन उनका स्वभाव था। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। ब्रह्माण्ड, पृथ्वी, परमाणु, इलेक्ट्रान, प्रोटोन, न्यूट्रोन, प्रकाश व तरंग सिद्धांत एवं वायु मण्डल का उन्होंने पूर्ण अध्ययन किया था।[45] उनके अन्दर कला एवं विज्ञान का सुन्दर समन्वय था। इसीलिए उनके अन्दर भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद दोनों का भी सुन्दर समन्वय था, उन्हें विज्ञान एवं अध्यात्म की सीमाओं का ज्ञान था। वे लिखते हैं कि– 'विज्ञान अपने वर्तमान की खोज तो कर सकता है लेकिन अपने भूत व भविष्य के बारे में वह अब भी अनिश्चितता के सागर के बीच खड़ा है। उसने इस खालीपन को अटकलबाजी व कल्पना के लिये छोड़ दिया है, जिसका उपयोग बह्मज्ञानी वेदान्ती अपनी व्याख्याओं के पुष्टिकरण में करते हैं। जिसका सही रीति से अनुमान नहीं किया जा सकता है, पर कितने लोग इस तर्क को पढ़ेंगे और कितने लोग उस तर्क का उपयोग करेंगे। हममें से अधिकांश भावनाओं व काल्पनिक अवधारणाओं के आधार पर जीते हैं, जो हमारे मन के भीतर से भीतर के तन्तुओं के साथ ऐसा कसावट भरा ताना-बाना बुनती है, जब तक कि वह नये संसार को जन्म न दे दें, एक नया स्वर्ग, एक नया नर्क, एक शाश्वत् जीवन को।'[46]

धर्मों में भगवान को ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च नियंत्रक माना गया है। लोगों को यह विश्वास बिठाया गया कि जब भी संकट आयेगा तब भगवान पर आस्था रखनी है, वही हर संकट से निजात दिलायेगा। मगर मनुष्य की आस्था बड़ी विचित्र है। डॉ. हरीसिंह गौर का कहना है कि जब दुनिया में पाप, अपराध, अन्याय और कष्ट बढ़ते हैं, इन्सान को इनसे जूझना पड़ता है, कठोर संघर्ष करना पड़ता है फिर भी समस्या जस की तस रहती है तब इन परेशानियों के सामने भगवान की सम्पूर्णता का सिद्धांत डगमगा जाता है।[47]

वर्तमान में मई 2020 में भारत सहित सारा विश्व कोरोना महामारी से जूझ रहा है, प्रतिदिन हजारों मौत हो रही हैं। विज्ञान अभी तक इसकी रोकथाम के लिए दवा या टीका नहीं बना पाया। ईश्वर पर गहरी आस्था रखने वाले भी जब अस्पताल में जिन्दगी, मौत से जूझ रहे हैं ऐसे में ईश्वर पर से उनकी आस्था डगमगा रही है। इस दृष्टि से डॉ. हरीसिंह गौर का कथन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पूर्णतः प्रासंगिक प्रतीत होता है।

कभी-कभी परेशानिया, कष्ट इतने अधिक होते हैं जिनका समाधान न विज्ञान के पास मिलता है और न ही भगवान इन समस्याओं से लोगों को निजात दिला पाता है, ऐसे में बौद्ध धर्म की शिक्षायें ही लोगों का मनोबल बनाये रख सकती है। आध्यात्मिक मूल्य ही मानवता को संबल प्रदान कर सकते हैं। इसीलिए डॉ. हरीसिंह गौर के बौद्ध धर्म को अपनाया। 'द स्प्रिट ऑफ बुद्धिज्म' लिखकर बौद्ध धर्म की, उत्साह से ओत-प्रोत शिक्षाओं से, लोगों का मनोबल बढ़ाने का प्रयास किया है। इस तरह हम देखते हैं कि डॉ. हरीसिंह गौर ने अपना जो धार्मिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है वह पूर्णतः अनुभवाश्रित चित्रण है। वर्तमान में मानवता के सामने जो समस्यायें हैं उनसे बौद्ध धर्म के अष्टांगिक मार्ग पर चलकर निजात पायी जा सकती है।

प्रोफेसर
इतिहास विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

संदर्भ -

1. हरीसिंह गौर, 7 लाइब्ज, आत्मकथा, हिन्दी अनुवाद, राजेश श्रीवास्तव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, 2006, पृ. 89
2. एस.ए. राघो, डॉ. हरीसिंह गौर की जीवनी, सुदेश प्रकाशन, सागर, 1987, पृ. 69
3. हरीसिंह गौर, पूर्वोक्त, पृ. 77
4. वही, पृ. 76
5. एस.ए. राघो, पूर्वोक्त, पृ. 69
6. वही, पृ. 103
7. वही, पृ. 70

8. हरीसिंह गौर, पूर्वोक्त, पृ. 33
9. वही, पृ. 101
10. वही, पृ. 183
11. डॉ. हरीसिंह गौर का संक्षिप्त जीवन वृत, 149वीं गौर जयन्ती के अवसर पर वितरित पुस्तिका, पृ. 27
12. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव, राहुल सांकृत्यायन : एक इतिहास परक अनुशीलन, किताब महल, इलाहाबाद, 2004, पृ. 95
13. विद्यानिवास मिश्र, राहुल चयनिका, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1993, आमुख, पृ. 11
14. हरीसिंह गौर, पूर्वोक्त, पृ. 192
15. वही, पृ. 193
16. बी.के. श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास, एस.बी.पी.डी. पब्लिशिंग हाउस, आगरा, 2014, पृ. 123
17. भीमराव जी अम्बेडकर, भगवान बुद्ध और उनका धर्म, हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, बुद्ध भूमि प्रकाशन नागपुर, 1997, पृ. 17
18. वही, पृ. 16
19. हरीसिंह गौर, पूर्वोक्त, पृ. 197
20. राधाकृण चौधरी, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भारती भवन, पटना, 1993, पृ. 105
21. भगवान बुद्ध और उनका धर्म, पूर्वोक्त, पृ. 94
22. एस.ए. राघो, पूर्वोक्त, पृ. 55
23. भगवान बुद्ध और उनका धर्म, पूर्वोक्त, पृ. 96
24. हरीसिंह गौर, पूर्वोक्त, पृ. 199
25. वही, पृ. 195
26. भगवान बुद्ध और उनका धर्म, पूर्वोक्त, पृ. 183
27. वही, पृ. 184
28. वही, पृ. 315
29. वही, पृ. 316
30. हरीसिंह गौर, पूर्वोक्त, पृ. 194
31. बी.के. श्रीवास्तव, मन पर नियंत्रण का विज्ञान एवं सफलता के सूत्र, अमन प्रकाशन, सागर, 2019, पृ. 24
32. हरीसिंह गौर, पूर्वोक्त, पृ. 194
33. ए.एल. वाशम, अद्‌भुत भारत, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1992, पृ. 226
34. भगवान बुद्ध और उनका धर्म, पूर्वोक्त, पृ. 97-100
35. हरीसिंह गौर, पूर्वोक्त, पृ. 196
36. वही, पृ. 192
37. वही, पृ. 197
38. वही, पृ. 198-199
39. वही, पृ. 199
40. वही, पृ. 199
41. वही, पृ. 200
42. वही, पृ. 200-201
43. वही, पृ. 198
44. वही, पृ. 202
45. वही, पृ. 190-191
46. वही, पृ. 201
47. वही, पृ. 202

विष्णु खरे : कृति के साथ आलोचना का युग्म रचती कविता

- दिनेश अत्रि

आज हम जिस शख्सियत पर चर्चा करने जा रहे हैं, वे बमुश्किल 19 बरस के स्नातक रहे होंगे जब उन्होंने टी. एस. ऐलियट की 'वेस्टलैण्ड' का हिंदी कविता 'मरु भूमि' और 'अन्य कवितायें' में अनुवाद कर डाला था, जिसकी भूमिका के लिए पण्डित नेहरु से अनुरोध किया, लेकिन व्यस्तता के चलते यह जिम्मेदारी रामधारी सिंह दिनकर ने निभाई।

विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न विष्णु खरे जी ने विपुल साहित्य रचा जो कविताओं, साहित्यालोचन, फिल्म समीक्षा, पत्रकारिता विदेशी भाषाओं के हिंदी और हिंदी के विदेशी भाषाओं में अनुवाद के रूप में हमारे सामने उपस्थित है। लेकिन जिस रूप में उन्होंने सर्वाधिक ख्याति अर्जित की वह उनका कवि रूप ही है जो उनके सात कविता संग्रहों और अब उनके संचयन 'सेतु समग्र' के रूप में हमारे सामने है।

उनकी कविताओं के बारे में यूं तो विभिन्न साहित्यकार समीक्षकों ने कुछ न कुछ कहा है, लेकिन समग्रता में उनकी विराट प्रतिभा का आकलन होना अभी शेष है। उनके आकलन की कसौटियाँ उन्हीं की रचनाओं में से निकाली जाती रहेंगी जिनके आधार पर उनकी कविता और कविता दृष्टि की समीक्षा होगी। लेकिन क्या उसकी अनुपस्थिति में कोई एक सामान्य कसौटी तय की जा सकती है जिसके आधार पर हम उनकी अथवा किसी की भी सर्जनात्मकता को आंक सकें। मुझे लगता है कि हाँ, यह सम्भव है।

नोबेल पुरस्कृत स्वीडिश कवि टोमास ट्रांसट्रॉमर की एक उक्ति है जो मुझे लगता है, कि कविता ही नहीं, तमाम कलाओं की सर्जनात्मकता और मौलिकता को मूल्यांकित करने की सर्वमान्य कसौटी हो सकती है। उनका कहना है, ''घने जंगल में कहीं एक अप्रत्याशित जगह है जहाँ सिर्फ वही पहुँच सकता है जो सारे रास्ते भूल चुका हो।''

विष्णु खरे उस अप्रत्याशित जगह पर इसलिए पहुँच सके क्योंकि उन्होंने एक-एक कर सारे रास्ते भुला दिये। वे निश्चित ही जानते रहे होंगे कविता के विभिन्न वाद, अलंकार, छंद, प्रतीक और बिम्ब, जिन्हें अपने अपने देश-काल, परिस्थितियों की काव्य प्रवृत्तियों, सोपानों में व्यवहृत किया जाता रहा। नये मार्ग की तलाश में ही परिचित रास्तों को भुलाने का रहस्य है। पुरानी अनुगूँजें और छायाएँ उनकी आरम्भिक रचनाओं में दिखाई देती हैं,

मसलन मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, इत्यादि पर उनसे मुक्त होते हुए पूर्ववर्ती मुहावरों और काव्य संवेदना से आसक्त-विरक्त होते, टकराते, तोड़फोड़ करते, लहूलुहान, धीरे-धीरे उन्होंने अपनी अलग काव्य योजना बना डाली। उस नए काव्य विधान की विलक्षणतायें और विशेषतायें जो उनके व्यक्तित्व को उनके काव्य कर्म में प्रतिध्वनित करती हुई भी हैं, कुछ इस प्रकार हैं :

विवरणात्मकता, सपाट गद्यात्मकता, भावुकता विहीन संवेदना, कहानी, कविता की सीमाओं का समेकन, दोनों का अनूठा सामंजस्य और एकत्व, यथा :

इतने दिनों से आप देख ही रहे होंगे सर
बिना आदेश मशविरा देना मेरी आदत नहीं
लेकिन अब जब इस नये बलवे के बाद आपका हुक्म हुआ है
तो माफ़ कीजिएगा सर मैं शुरु से ही बहुत श्योर नहीं था
कि अपनी यह मुहिम कामयाब हो पायेगी...

...आप लोगों की मेहरबानी से सिविल सर्विस में
मुझे तीस साल से ऊपर हो चुके हैं
एकेडमी में शायद ही कोई ट्रेनर ऐसा रहा हो
जो आपके सोच से अलग सोचता हो
पी एस सी यू पी एस सी में मेंबर्स ही ऐसे हैं
जो सोच समझकर सेलेक्शन करते हैं
एजुकेशनल इंस्टीट्यूट्स में भी वैसे ही लोग हैं सर
लेजिस्लेचर जुडीशिअरी सिनेमा टीवी रेडियो अखबार के मालिक नौकर
सारी पोलिटिकल पार्टीज़
आर्मी नेवी एअरफ़ोर्स पैरा–मिलिटरी पूरी पुलिस फ़ोर्स के टॉप ब्रास
कैप्टेन्स ऑफ इंडस्ट्री तो सर अपने हैं ही
एक्सैप्शंस तो हर जगह होते हैं
लेकिन विल पावर से उन्हें भी ठीक किया जा सकता है

(कानून और व्यवस्था का उप-मुख्य सलाहकार सचिव चिंतित प्रमुखमंत्री को परामर्श दे रहा है)

एक और अंदाज़–ए–बयां :

खुली बहसों को दावत देना
रवादार शाहंशाहों को भी परेशानी में डाल देता था
हिजरी 987-88 के दौरान दीवान-ए-ख़ास में
जब इस बात पर मुबाहिसा हुआ

कि ख़ुदावंद की बनायी सबसे उम्दा शय अशरफ़-उल-मख़लूकात
आदमज़ाद की वाहिद पैदाइशी मुकद्दस जुबान क्या थी
तो काज़ी और उलमा इस पर यकराय थे
कि अल्लाह की जुबान अरबी है
जिसमें उसने कुन् कहकर कायनात को वजूद बख़्शा
और किताब-उल-मुबीन को नबी पर तारी किया
(गुंग महल)

उनकी कविता एक साथ गद्य भी, पद्य भी, वाक्य भी, पंक्ति भी, कृति के साथ आलोचना का युग्म रचती कविता है, आलोचना की भाषा में कविता सम्भव करने का अदम्य साहस और सौन्दर्य।

प्रबुद्ध कवि आलोचक विजय कुमार जी ने उन्हें अनेक विशेषणों से विभूषित किया, यथा— एक जीवंत, सृजनात्मक, वैचारिक, सूचनात्मक, अनप्रेडिक्टेबल, बहसतलब, जिज्ञासु, पढ़ाकू, जुझारु, मौलिक, गपशप को आतुर, औपचारिकताओं को ताक पर रख देने वाला, प्रतिभा को आगे बढ़कर अभय देने वाला, मूर्खताओं को भड़भड़ा देने वाला, प्रतिभाशून्य लिजलिजे निर्लज्जों और खींसे निपोरते यशाकांक्षियों के लिए जूता निकाल लेने वाला, किसी की कविता के पसंद आ जाने पर बहुत देर तक बतरस में डूबा रहने वाला, योग्य-अयोग्य को अपने मानकों पर छंटनी करने वाला, सभी से संवाद करता हुआ, सबकी आवाज़ के परदे में रहने वाला, सभी को खरी-खरी सुना देने वाला, मूर्तिभंजक, विवाद प्रिय, मित्रताओं और शत्रुताओं दोनों का सीधे-सीधे हिसाब कर देने वाला, साहित्य के टॉप फ़्लोर से ग्राउंड फ़्लोर तक किसी को भी फ़टकार लगा देने वाला, क्रोधी, कड़क, उत्सुक, कोमल, भावुक, शुभचिंतक, नीट पीने वाला, कोई रियायत न देने वाला, थोड़ी सी तारीफ करते ही एक विकराल हँसी हँसने वाला, अपने तरकश में अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग तीर रखने वाला, कोमल गांधार से लेकर मौलिक गालियों तक फ़ैले एक अजब से बीहड़ रेंज वाला, एक मौकापरस्त, अविश्वसनीय, दोगले, आत्ममुग्ध, आत्मकेन्द्रित, साहित्यिक परिदृश्य के परखच्चे उड़ाता, जो संस्थानों से दूर भी नहीं रहा पर संस्थानों से जिसकी पटरी कभी नहीं बैठी।

विष्णु खरे में संवाद करने का अद्भुत साहस था। हममें से अधिकांश लोग खुले मन और विचारों के होकर भी नापतोल कर और संवाद के संभावित प्रभाव और दुष्प्रभाव का आंकलन करने के बाद संवाद में रत होते हैं, मगर उनके साथ ऐसा नहीं था। विचारों को ज़ब्त या प्रकट करने की कूटनीति से वे परे थे।

वे संवादजीवी थे। बहुत कम लेखक ऐसे होंगे जो नए लेखकों से संवाद बनाए रखते हों। वे खरी-खरी बोलते थे, डाँट देते थे, गाली बक देते थे, फटकार देते थे, जाहिल और काहिल

कह देते थे। लेकिन उसी त्वरा से तारीफ़ भी कर देते थे – ताकि नए लेखकों का विश्वास बना रहे। उन्होंने शायद ही किसी को बख़्शा हो। वे हिंदी के बचे खुचे सर्वाइवर्स में से थे।

उनके बारे में यह बहुश्रुत है कि हर बड़ी हस्ती को उसी के मुँह पर मूर्ख या एकाध को गधा भी कहना उनका शगल रहा। वे ऐसी जुर्रत रखते थे लेकिन हृदय उनका कलुषित नहीं था। वे अहमन्य नहीं थे। उन्हें उनकी ग़लती बताओ तो मान लेते थे।

एक और बात – भाषा के प्रति उनमें अटूट आस्था थी। वर्तनी, व्याकरण और भाषाई ग़लतियाँ वे नज़र पड़ते ही देख लेते थे। जैकस ताती को जाक ताती, नट हेम्सन को नुत हेमसन, रेने चम को रेने शम जैसी ग़लतियों को सुधारते हुए वह किसी की अज्ञानता पर हँसते नहीं थे। भाषा के साथ तमीज़ से पेश आना चाहिए लेखक के लिए यह अति आवश्यक है।

उन्हें रघुवीर सहाय ने भाषा के प्रति सचेत, सर्वाधिक सम्भावनाशील कवि माना। उन्होंने भाषा के फ़ार्म को तोड़ा। उनके कविता संग्रह 'खुद अपनी आँख से' की कविता समीक्षा में रघुवीर सहाय ने कहा है – ''कहानी में कविता कहना विष्णु खरे की सबसे बड़ी शक्ति है।'' उनकी कविताऐं पढ़ने के लिए धैर्य और संयम की ज़रुरत पहली शर्त है और उससे भी पहली शर्त है कि हिंदीछाप ज़हालियत से आप छुटकारा पा सके हों। उनकी कविताएँ ऐसी ही भाषा का लिबास पहने हुए हैं। हिंदी की भीरुता से उन्हें चिढ़ थी। हिंदी को संस्कृतनिष्ठता का पुराना अचकन पहनाकर उसके साम्प्रदायीकरण को भी वे चीह्नते थे। वे एक तरह से अगाथा क्रिस्टी के जासूसी उपन्यास के नायक की तरह हिंदी साहित्य के हरक्यूल पोईरोट थे, जिनके बारे में कहा जाता है, ''हरक्यूल पोईरोट मेथड्स आर हिज़ ओन''।

उनकी भाषा में यदि कानून जैसी कठोरता है तो फ़िर उसी चट्टान को फोड़ती करुणा की कोंपलें भी हैं –

जाने से पहले उसने कहा
अपनी बेटी समझ कर ही मुझे रख लीजिए...
...उसे मैं वह नौकरी दे न सका...
...लेकिन मन ही मन मैंने उसे बेटी ज़रुर कहा...
...उसका पिता उसके साथ नहीं था
वरना अपना वह प्रतिरुप मैं देखता...
अपनी बेटी के लिए समस्याएँ पैदा न करते हुए
ताकि वक्त ज़ाया न जाए...
...हर मुमकिन वास्ता देते हुए
हर शाम मेरी अजनबी बेटी लौटती है
मायूस होने से पहले कुछ नये रहमदिलों की बेटी बनकर

सुबह फिर निकल जाती हैं मेरी हज़ारों बेटियाँ
एक परेशान डरी हुई अपमानित उम्मीद लिए
अपने असली पिताओं से अलग उस पिता की तलाश में
जो उन्हें बेटी या क़ाबिल माने न माने रख तो ले
(बेटी)

यह भी अलक्षित नहीं किया जाना चाहिए कि समय और संवेदना के सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्षण को भी कविता में स्फ़ीति दे पाना जैसा गद्य में निर्मल वर्मा कर सके, इन्हीं के वश में रहा।

ईश्वर को जब आभास हो गया
कि उसके कुछ भी करने
या न करने से ही नहीं
मात्र सोचने न सोचने से भी
सृष्टियाँ जन्म लेती रहती हैं
– कुछ नष्ट भी होती होंगी –
सो उसने अपने काल को स्मरण
और इच्छा–मृत्यु का वरण किया...

...यदि अतिनाटकीय लगता हो ''ईश्वर की मृत्यु'' –
भले ही वह तत्क्षण हो गयी हो

लेकिन जब एक पार्थिव क्षण में
कई अरब प्लांकक्षण नैनोनिमेष बताए जाते हैं
तो ईश्वर का तत्क्षण भी कई उन के बराबर होता होगा
जिन्हें कहीं-कहीं चतुर्युग कहा गया है...
(अभूतपूर्ववत्)

हिंदी की चर्चित लेखिका कात्यायनी जी कहती हैं कि मितकथन को कविता की शक्ति मानने की प्रचलित अवधारणा को तोड़ते हुए वे शब्द बहुलता और वर्णन के विस्तार के ज़रिए एक प्रभाव–वितान रचते हैं, एक तरह का भाषिक स्पेस क्रिएट करते हैं। सच कहें तो छंद मुक्ति के बाद हिंदी कविता ने विष्णु खरे की कविताई में एक नयी मुक्ति पाई है और जीवन की संश्लिष्ट गद्यात्मकता को पकड़ने की, ज़्यादा गहराई में उतर गई जीवन की अंतर्लय को पकड़ने की शक्ति अर्जित की है। वहाँ जटिल प्रश्नों का सहज सरल उत्तर प्रस्तुत करने के बजाए विवेक

सक्रिय करने वाली प्रश्नाकुलता ही तार्किक निष्पत्ति के रूप में सामने आती है। विश्वास है कि हमारी इस अंधकारपूर्ण, आततायी शताब्दी के वर्ष जैसे-जैसे बीतते जाएंगे, विश्व की कविता हमारे समय के आम नागरिक की नैतिक विकलता, द्वंद्व जिजीविषा और युयुत्सा की कविता के रूप में ज़्यादा से ज़्यादा महत्व अर्जित करती जाएगी।

कई तो उन्हें हिंदी साहित्य के भीष्म पितामह मानते हैं। यह अतिरेक नहीं है, किंतु कटु सत्य है कि विष्णु खरे की समकक्ष प्रतिभा का कोई व्यक्ति साहित्य संसार में अब शेष नहीं, जिसकी स्मृति विलक्षण, विश्व साहित्य पर पकड़ असाधारण, प्राचीन भारतीय ग्रंथ और विचार परम्परा उल्लेखनीय, सिनेमा सौंदर्य दृष्टि अदभुत, काव्य आलोचना कर्म अनन्य, नयी कविता दृष्टि अनुपम और समसामयिक लेख दूरदर्शी हों।

अपनी बात का अंत मैं प्रख्यात लेखक तुषार धवल के इस मार्मिक कथन से करना चाहूँगा, ''उनके लिखे की समीक्षा तो समय करेगा, पीढ़ियाँ करती रहेंगी, नीरस गद्य की छाती से कविता की धारा को निकाल लेना उनकी कुछ वही ताकत थी जो महाभारत के महानायक की, जो अपने बाण से सूखी धरती की छाती से गंगा निकाल लाता था, लेकिन उसमें थोड़ा वक्त लगेगा!''

''हरिरम्मा''
मीनाक्षीपुरम्, पथरियाजाट,
सागर (म.प्र.)
मो. नं. 9425171769

(सेतु समग्र : कविता, विष्णु खरे, सेतु प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली-92 संस्करण - 2019, मूल्य - 1030)

राजनैतिक मुहावरे के कवि धूमिल

- हिमांशु कुमार

हिन्दी साहित्य में 'धूमिल' के नाम से प्रसिद्ध कवि का असली नाम सुदामा पाण्डेय और उपनाम 'धूमिल' था। 9 नवम्बर 1936 को वाराणसी के 'खेवली' नामक ग्राम में उनका जन्म हुआ था और 10 फरवरी 1975 को उनकी मृत्यु। समकालीन कविता की जनवादी धारा के कवियों में धूमिल अलग और महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 1972 में उनका प्रथम काव्य संग्रह आया– 'संसद से सड़क तक', जिसकी कवितायें चर्चा के केन्द्र में रहीं। उनका दूसरा काव्यसंग्रह 'कल सुनना मुझे' 1977 में तथा तीसरा काव्यसंग्रह 'सुदामा पांडे का प्रजातंत्र' मरणोपरांत प्रकाशित हुआ। कहना न होगा कि धूमिल समकालीन युगबोध की सच्ची, मार्मिक और तीखी अभिव्यक्ति के कवि हैं। उनका सम्पूर्ण काव्य राजनीतिक और सामाजिक चेतना से सम्पृक्त है। अपने दूसरे संग्रह 'कल सुनना मुझे' की भूमिका 'भाषा की रात' में उन्होंने लिखा है– ''युवा लेखक के लिए राजनीतिक समझदारी जरूरी है। बिना इस राजनीतिक समझदारी के आज का लेखन सम्भव नहीं।''[1]

धूमिल की कविताओं को समझने के लिए उनके आत्मसंघर्ष और उनके परिवेश को समझना जरूरी है। कहते हैं कि कवि का आत्मसंघर्ष उसे बड़ा कवि बनाता है और इस मायने में धूमिल बड़े कवि हैं। उन्होंने हाईस्कूल की मामूली शिक्षा प्राप्त की थी। इसके बाद वे लोहा ढोने वाले मजदूरों के साथ काम करते रहे तो कभी व्यावसायिक फर्म में भी। बाद में वे आई. टी.आई. वाराणसी में नौकरी करने लगे। इस संघर्ष में धूमिल सत्ता के आतंकी और हत्यारे चरित्र से हमेशा भय खाते रहे। और अपनी कविताओं में वे बराबर इसी भय से जूझते हुए संघर्ष करते रहे। बच्चन सिंह लिखते हैं– ''धूमिल की कविता हत्यारों के खिलाफ एक लड़ाई है।''[2]

आज का दौर मानव सभ्यता का कठिनतम दौर है। चौतरफा संकट के बादल मंडरा रहे हैं। हर चीज बाजार से तय हो रही है। हर चीज के क्रेता-विक्रेता हैं। धर्म, मूल्य, संस्कृति, राजनीति और विचार सभी कुछ बिक रहा है। पूरा विश्व ग्लोबलाइजेशन की चपेट में है। देश में निजीकरण के नये मॉडल पेश हो रहे हैं। वित्तीय पूँजी की एकछत्र और निर्बाध प्रभुता स्थापित हो रही है। विश्व-बाजार, तकनीकी संचार और अर्थव्यवस्था के नये समीकरण विकसित हो रहे हैं। इन सारी प्रक्रियाओं से पूरे विश्व में सामाजिक विकास का बुनियादी ढाँचा प्रभावित हुआ है। ऐसे में धूमिल के समय को देखना अप्रासंगिक न होगा।

देश के आजाद होने के बाद नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने देश की सत्ता सँभाली। नेहरू का स्वप्न समाजवादी व्यवस्था का था। इसी दौरान 1962 में चीन के साथ और 1965 में पाकिस्तान के साथ भारत के युद्ध हुए। इसी के साथ जनता के मोहभंग की शुरुआत होती है। आजादी का स्वप्न अब धीरे-धीरे टूटकर मोहभंग में बदलने लगा था। यही कारण है कि 1967 में देश के आम चुनाव में कांग्रेस को कई राज्यों में हार का सामना करना पड़ा, जिससे केन्द्र में उसकी शक्ति पर असर पड़ना स्वाभाविक था। बहुत से जनान्दोलन उठ खड़े हुए और सरकार के विरूद्ध प्रतिरोध की भावना विकसित हुई। नक्सलवादी आंदोलन इसी की देन है। 1971 में देश को फिर एक और युद्ध का सामना करना पड़ा। इन घटनाओं ने हिन्दी काव्य की धारा को बहुत प्रभावित किया। बच्चन सिंह लिखते हैं– ''स्वतंत्र भारत में समाजवाद के मिथक और पूँजीवादी शिकंजे में पिसता हुआ व्यक्ति अजनबियत का शिकार हो गया।''[3] आजादी के बाद के भारत में राजनेताओं के भ्रष्ट चेहरों और उनकी विषमतावादी नीतियों से जनता का पाला पड़ा। सारे भ्रम धीरे-धीरे टूटने लगे। विश्वास का ऐसा गला घोंटा जाने लगा कि निराशा, हताशा, मूल्यहीनता, बेकारी, अत्याचार, हिंसा, भूखमरी इत्यादि ने अपने पैर चारों ओर पसार लिए।

ध्यातव्य है कि ऐसे समय में एक व्यक्ति है जो सत्ता से सीधे टकराने की हिम्मत रखता है। और वे हैं– धूमिल। धूमिल की कविताओं में आजाद भारत की सच्ची, यथार्थपरक और विकृत तस्वीर उभरती है, जिसमें हर तरफ बदहाली है, बेकारी है, भूखमरी है, असंतोष की भावना है, समाज और व्यवस्था के प्रति मोहभंग है।

मात्र 38 वर्ष का जीवन जीने वाले धूमिल के काव्य की संवेदना और अन्तर्वस्तु अत्यन्त व्यापक है। उनके काव्य में सारे देश की पीड़ा का चित्र उभरता है। देश की तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक निर्मितियों के स्वरूप को समझने के लिए धूमिल की कविता एक आधारभूत स्रोत है। समाज और राजनीति के खोखलेपन को धूमिल की कविता बखूबी बयां करती है। धूमिल अपने राजनीतिक परिवेश के प्रति बहुत सजग हैं इसलिए वे बराबर अपनी कविताओं में राजनीति में पैदा हुई विकृति का उद्घाटन करते हैं। कहना न होगा कि आज के जटिल जीवन की विकासात्मक प्रक्रिया में राजनीति एक महत्वपूर्ण घटक है। हर मनुष्य चाहे-अनचाहे राजनीति से प्रभावित है।

धूमिल वस्तुतः राजनीतिक समझदारी के चेतनासम्पन्न सशक्त कवि हैं। उनकी कवितायें संसद से सड़क तक की भाषा हैं। स्वतंत्रता के बाद के आधुनिक हिन्दी साहित्य में धूमिल कविता को कल्पना लोक से बाहर निकालकर उसे समसामयिक यथार्थ से जोड़ते हैं और आम आदमी के मुहावरे में बात करते हैं। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने लिखा है– ''धूमिल की कविता सच्चे अर्थों में संसद और सड़क अर्थात जनता और जनतंत्र की कविता है। उनकी कविता की सारी शब्दावली सामाजिक एवं राजनीतिक संसार की शब्दावली है। वे सही अर्थों में सामाजिक,

राजनीतिक चेतना के कवि हैं। राजनीतिक ढोंग, छल, पाखंड और उनकी मानव विरोधी हरकतों पर कवि की कविता प्रहार करती है।''[4] आजादी के बाद की परिस्थितियों पर वे बड़ी तीखी टिप्पणी करते हैं—

''क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है
जिन्हें एक पहिया ढोता है
या इसका कोई खास मतलब है?''[5]

आज के इस संकटग्रस्त दौर में तमाम बुद्धिजीवी लोग भी अपनी आत्मा बेच चुके हैं। भ्रष्टता और स्वार्थीपन उनके अन्दर इस कदर व्याप्त हो गया है कि अपने तुच्छ लाभ के लिए अपना मान-सम्मान, ईमानदारी, जमींर इत्यादि सब कुछ दांव पर लगाने को वे तैयार हैं। ऐसे ही चापलूसों की जिनसे दुनियां भरी पड़ी है, धूमिल अपनी कविता में खूब ख़बर लेते हैं—

''वे सब के सब तिजोरियों के
दुभाषिये हैं
वे वकील हैं। वे वैज्ञानिक हैं।
अध्यापक हैं। नेता हैं। दार्शनिक हैं।
लेखक हैं। कवि हैं। कलाकार हैं।
यानि कि—
कानून की भाषा बोलता हुआ
अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है।''[6]

धूमिल राजनीति की उस विडम्बना की ओर इशारा करते हैं कि सरकार बदलने के बाद भी देश के हालात सुधरे नहीं हैं—

''हाँ, यह सही है कि कुर्सियाँ वही हैं
सिर्फ, टोपियाँ बदल गयी हैं।''7

देश में आज भी नेताओं के रंग बदलने को लेकर तरह-तरह की उपमायें दी जाती हैं। नेताओं को गिरगिट तक कह दिया जाता है। कुर्सी के लिए नेताओं की आपसी टकराहट और स्वार्थ सिद्धि को देखकर ही धूमिल ने लिखा था—

''मैंने देखा हर एक तरफ, रंग-बिरंगे झण्डे फहरा रहे हैं
गिरगिट की तरह रंग बदलते हुए, गुट से गुट टकरा रहे हैं।''[8]

आज के समय में चुनावी माहौल में नेता लोग बहुत से राजनीतिक दावे करते हैं और ऐसा दर्शाते हैं कि जनता का भला चाहने वाला उनसे बड़ा कोई नहीं है। चुनाव बीतने के साथ ही इन नेताओं की पोल खुलना शुरु हो जाती है। धूमिल ने अपनी कविता में इस प्रवृत्ति को लक्षित करते हुए लिखा था—

"हाँ, यह सही है कि इन दिनों
मंत्री जब प्रजा के सामने आता है
तो पहले से ज्यादा मुस्कराता है
नये-नये वादे करता है?
और यह सिर्फ घास के
सामने होने की मजबूरी है।"[9]

जैसे आज के समय में कानून का दरवाजा खटखटाना व्यर्थ है और संविधान के उद्देश्य की धज्जियाँ उड़ायी जा रही हैं, धूमिल के समय में भी ऐसी ही परिस्थितियाँ थीं, जो कमोबेश बदल नहीं सकी हैं। धूमिल ने लिखा–

"नहीं अपना कोई हमदर्द, यहाँ नहीं है
मैंने एक-एक को परख लिया है
मैंने हर एक दरवाजा खटखटाया मगर बेकार
मैंने जिसकी पूँछ उठायी, उसको मादा पाया है।"[10]

पूँजीवाद के उभार के बाद देश में नयी शोषक शक्तियों का उदय हुआ। देश में शोषित और शोषक दो ही वर्ग मुख्य हो गये। शोषक वर्ग तमाम प्रकार के हथकंडे अपनाकर अपनी तिजोरियाँ भरता रहा तथा शोषित वर्ग जिसमें किसान एवं मजदूर मुख्य रूप से थे, दिन-रात मेहनत करके भी भूखे पेट सोता रहा। यह असमानता आज भी जारी है। अपने नये स्वरुप में वह कारपोरेट और सत्ता के तंत्र एवं किसानों-मजदूरों के रूप में चिन्हित की जा सकती है। धूमिल ने अपने समय की इन विसंगतियों को प्रश्नांकित करते हुए लिखा था कि–

"एक आदमी
रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है
वह सिर्फ रोटी से खेलता है
मैं पूछता हूँ–
यह तीसरा आदमी कौन है?
मेरे देश की संसद मौन है।"[11]

धूमिल ने जनता की दुर्दशा को अपनी आँखों से देखा था। इसलिए अपनी कविताओं में वे शोषित गरीब जनता के दर्द को उभारते हैं। उनकी 'मोचीराम' कविता तत्कालीन सामाजिक चेतना की कलात्मक एवं युगान्तकारी अभिव्यक्ति है। वे लिखते हैं–

"बाबूजी! सच कहूँ- मेरी निगाह में
न कोई छोटा है
न कोई बड़ा है
मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है
जो मेरे सामने मरम्मत के लिए खड़ा है
आजतक
कोई जूते की नाप से
बाहर नहीं है।"[12]

जनवादी कवि धूमिल अपनी सभी कविताओं में किसी न किसी रूप में संसद और सड़क से रुबरु होते हैं। आज देश के जो हालात हैं, उसमें धूमिल की कवितायें हमें सोचने पर विवश करती हैं। ये कवितायें हमें प्रश्नाकूल बनाती हैं और जनतंत्र रूपी तमाशे के इस दौर में एक नई दृष्टि देती हैं। धूमिल लिखते हैं–

"दरअस्ल, अपने यहाँ जनतंत्र
एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान मदारी की भाषा है।"[13]

ग्रामीण जीवन और राजनीतिक विसंगतियों को बारीकी से समझने वाले धूमिल अपनी कविता में शब्दों का चुनाव अपने गाँव के खेत-खलिहानों के सख्त चेहरों, तनी हुई मुट्ठियों, छोटी जातियों के घुटते हुए जीवन और फुटपाथों से करते हैं। बच्चन सिंह ने लिखा है– "वस्तु के बदलाव के साथ धूमिल ने कविता को नई भाषा और नये मुहावरे दिये हैं जो विपक्ष का पक्ष प्रस्तुत करने में पूर्णतः समर्थ है।"[14] उनकी ये पंक्तियाँ आज भी अमर हैं–

"लोहे का स्वाद
लोहार से मत पूछो
उस घोड़े से पूछो
जिसके मुँह में लगाम हैं"[15]

अपने जीवन में अल्पायु पाने वाले कवि धूमिल को मरणोपरांत 1979 में 'कल सुनना मुझे' काव्य संग्रह के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार दिया गया। कविता को भाषा में आदमी होने की तमीज मानने वाले कवि धूमिल की कवितायें आज के संदर्भ में भी बहुत प्रासंगिक हैं। धूमिल की कविताओं में उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता उन्हें एक बड़े साहित्यकार के रूप में स्थापित करती है। डॉ. रामदरश मिश्र ने लिखा है कि– "धूमिल ने कविता को एक नया मुहावरा दिया है और उन्होंने राजनीतिक चेतना को अपने काव्य में बड़ी कुशलता से अन्तरव्याप्त किया है।"[16]

धूमिल ने अपनी कविताओं के माध्यम से कविता के नये राजनैतिक मुहावरे की तलाश की और आम आदमी की भाषा में मनुष्यता को उच्चतर मूल्य के रूप में रेखांकित किया।

राजनीति और समाज सापेक्ष हर आदमी के लिए धूमिल की कवितायें हमेशा नयी दृष्टि देती रहेंगी।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

संदर्भ -

1 कल सुनना मुझे : धूमिल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977, भूमिका
2 आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2012, पृ.299
3 वही, पृ.228
4 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य एवं साहित्यकार : नामदेव उतरकर, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर, 2002, पृ.180
5 संसद से सड़क तक (बीस साल बाद) : धूमिल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1972, पृ.10
6 वही, पृ.126
7 वही, पृ.125
8 वही, पृ.117-118
9 वही, पृ.124
10 वही, पृ.126
11 कल सुनना मुझे : धूमिल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977, पृ.66
12 संसद से सड़क तक (मोचीराम) : धूमिल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1972, पृ.37
13 वही (पटकथा), पृ.105
14 आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2012, पृ.300
15 कल सुनना मुझे : धूमिल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977, पृ.15
16 हिन्दी साहित्य का इतिहास : नगेन्द्र, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, पृ.649

महात्मा गांधी के विचारों में समन्वयवाद पूर्व एवं पश्चिम के विचारों का संगम

- *पंकज सिंह*

महात्मा गाँधीजी ने भारतीय संस्कृति पर इतनी अधिक दिशाओं में प्रभाव डाला है कि उनके समस्त अवदान का सम्यक् मूल्य निर्धारित करना अभी किसी के लिए सम्भव नहीं दीखता। खान-पान, रहन-सहन, भाव-विचार, भाषा और शैली, परिच्छद और परिधान, दर्शन और सामाजिक व्यवहार एवं धर्म-कर्म, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता भारत में आज जो भी आचार या विचार प्रचलित हैं, उनमें से प्रत्येक पर कहीं-न-कहीं गाँधीजी की छाप है। यहाँ तक कि उनके आलोचकों और विरोधियों में भी ऐसे अनेक लोग हैं, जिनकी पोशाक नहीं तो खान-पान में, विचार नहीं तो सामाजिक आचार में, महात्मा गाँधीजी का प्रभाव मौजूद है।[1]

संसार का ध्यान गाँधीजी जी की ओर इसलिए आकृष्ट हुआ कि उन्होंने पशु-बल के समक्ष आत्म-बल का शस्त्र निकाला, तोपों और मशीनगनों का सामना करने के लिए अहिंसा का आश्रय लिया। यह सच है कि गाँधीजी जी के नेतृत्व मे जब भारतवासी ब्रिटेन से संघर्ष कर रहे थे, तब उनमें से अधिकांश का यही भाव था कि अहिंसा साधन-भर है, जिसका अवलम्ब हमने इसलिए लिया है कि हिंसक साधनों से अंग्रेजों का सामना करने की हमें सुविधा और सुयोग नहीं है। किन्तु स्वयं गाँधीजी इस विचार को नहीं मानते थें। अहिंसा को गँवाकर वे भारत को स्वाधीन करने के पक्षपाती नहीं थे। भारतीय स्वाधीनता बहुत बड़ा लक्ष्य थी, किन्तु उससे भी बड़ा ध्येय मानव-स्वभाव में परिवर्तन लाना था, मनुष्य को यह विश्वास दिलाना था कि जिन ध्येयों की प्राप्ति के लिए वह पाशविक साधनों का सहारा लेता है, वे ध्येय मानवोचित साधनों से भी प्राप्त किए जा सकते हैं।[2]

गाँधीजी जी न तो दयानन्द और अरविन्द के समान मेधावी पंडित एंव बहुपठित विद्वान् थे, न उनमें विवेकानन्द की तेजस्विता थी। अपने समग्र जीवन में उन्होंने कोई भी ऐसी बात नहीं कही, जो उनके पूर्ववर्ती लोगों ने न कही हो। किन्तु, साधनापूर्वक उन्होंने सभी प्राचीन सत्यों को अपने जीवन में उतारकर संसार के सामने यह उदाहरण उपस्थित किया कि जो उपदेश अनन्त काल से दिए जा रहे हैं, वे सचमुच ही, जीवन में उतारे जाने के योग्य हैं। गाँधीजी जी से पहले के सन्तों और सुधारकों ने पुस्तकीय ज्ञान के बल पर अथवा अनुभवों के आधार पर जितनी भी

अच्छी बातें कहीं थीं, गाँधीजी ने उन सब पर आचरण करके मनुष्यता को चौंका दिया और उसके भीतर इस आशा को जाग्रत कर दिया कि दुर्बल-से-दुर्बल मनुष्य भी चाहे तो मानवता के चरम-शिखर पर पहुँच सकता है। ज्ञानी संसार में बहुत हुए थे। गाँधीजी ने यह बतलाया कि मनुष्य की सार्थकता जानने में नहीं, करने में हैं।[3]

गाँधीजी अपने लम्बे राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यकाल में करोड़ों लोगों के संपर्क में आए और उन्होंने मानव प्रकृति एवं व्यवहार के विभिन्न पहलुओं का साक्षात अध्ययन किया। अपने इस प्रत्यक्ष अध्ययन के आधार पर उन्होंने मानव प्रकृति का संपूर्ण विवेचन किया है। उन्होंने मानव प्रकृति की जिस अवधारणा का प्रतिपादन किया, वह नकारात्मक भी है और सकारात्मक भी। इसका शारीरिक पहलू भी है और सांस्कृतिक भी। इसमें एक ओर तो भौतिकता व आध्यात्मिकता का तथा दूसरी ओर यथार्थवाद व आदर्शवाद का सम्मिश्रण है। जहाँ तक गाँधीजी की विचारधारा पर पड़े विभिन्न प्रभावों का प्रश्न है, यह कहना उचित होगा कि उस पर न केवल भारतीय धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा संस्कृति की अमिट छाप है, बल्कि उसमें यूनानी विचारक प्लेटो, ईसाई धर्म, लंदन तथा दक्षिण अफ्रीका स्थित ब्रिटिश पादरियों, ब्रिटिश उदारवादियों, अल्पमतवादियों व शाकाहारियों तथा इस्लाम की मान्यताओं की झलक भी मिलती है। इस प्रकार, गाँधीजी का विचार अनेक मान्यताओं, विचारों तथा प्रयत्नों का सम्मिश्रण है, जो गाँधीजी के समन्वयवाद का प्रतीक है।[4]

महात्मा गांधी के विचारों पर पूर्व के विचारों का प्रभाव

गाँधीजी की विचारधारा पर भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं प्राचीन ग्रंथों वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत का प्रभाव स्पष्ट परीलक्षित होता है। साथ ही साथ प्रणामी सम्प्रदाय, बौद्ध धर्म, जैन धर्म एवं शंकर के अद्वैतवाद के विचारों का गहरा प्रभाव गाँधीजी पर पड़ा था। गाँधीजी पर बचपन में श्रवण पितृ भक्ति नाटक पढ़कर गाँधीजी श्रवण कुमार से प्रभावित हुये। उन्होंने भी माता-पिता की सेवा का संकल्प किया। राजा हरिश्चन्द पर मंचित नाटक देख कर गाँधीजी ने जीवन में सत्य बोलने का संकल्प किया। गाँधीजी ने लिखा भी है मेरे विचार में हरिश्चन्द और श्रवण आज भी जीवित हैं। मैं मानता हूँ कि आज भी उन नाटकों को पंढू तो मेरी आँखों से आंसू वह निकलेगे।[5]

गाँधीजी जी ने श्रवण कुमार के नाटक से जो सीख ली वह अपने माता-पिता की सेवा कर निभाई। गाँधीजी के पिता के पास जैन धर्माचार्य आते थे। उनसे धर्म की चर्चा होती थी। उनके मुसलमान और पारसी मित्र भी उनसे अपने-अपने धर्मो की चर्चा करते थे। गाँधीजी ने अपने अन्दर सर्वधर्म समभाव के बीज प्रतिरोपित होने का उल्लेख इन शब्दों में किया है—'वे अपने-अपने धर्म की चर्चा करते और पिताजी उनकी बातें सम्मान पूर्वक और अक्सर रसपूर्वक सुना करते थे। इस सारे वातावरण का प्रभाव मुझ पर यह पड़ा कि मुझमें सब धर्मो के लिये

समान भाव पैदा हो गया।'[6] अपने पिता के पुस्तक संग्रह से मनुस्मृति का गांधी जी ने अध्ययन किया था। उन्हे यह बात समझ में आ गई थी कि यह संसार नीति पर टिका हुआ है। नीति पर चलने के लिये सत्य अति आवश्यक है। इस तरह गाँधीजी के मन में सत्य के प्रति निष्ठा दिनों दिन बढ़ने लगी।[7]

प्रणामी संप्रदाय का प्रभाव

आस्था की सुंदरता और उसके रहस्य से मोहनदास का परिचय उनकी मां ने ही करवाया। पुतलीबाई एक धर्मप्राण लेकिन उदार महिला थीं। उनका पालन-पोषण वैष्णव परंपरा में हुआ था और बाद में वह प्रणामी संप्रदाय की तरफ आकर्षित हो गई। पुतली बाई के माता पिता प्रणामी संप्रदाय के अनुयायी थे। यह एक समन्वयवादी धार्मिक सम्प्रदाय है। प्रणामी पंथ की उपासना पद्धति में इस्लाम के कुछ तत्वों से मिलती जुलती पद्धति भी शामिल थी। उस पंथ के संस्थापक एक क्षत्रिय, प्राणनाथ थे जो 18वीं सदी में काठियावाड़ में रहते थे। उन्होंने बहुत सारे जगहों की यात्रा की थीं और ऐसा कहा जाता है कि वे मक्का भी गए थे। पोरबंदर में जिस प्रणामी मंदिर की पुतलीबाई संरक्षिका थी, उसमें कोई मूर्ति या चित्र नहीं थी, सिर्फ दीवाल पर लिखावटें थीं जो हिन्दू धर्म शास्त्रों और कुरान से ली गई थीं।[8] गाँधीजी की माँ पोरबन्दर में गाँधीजी को प्रणामी सम्प्रदाय के मंदिर में ले गयी थीं। इस तरह यहाँ से भी गाँधीजी को धार्मिक सहिष्णुता का पाठ सीखने को मिला। इस प्रकार गाँधीजी के मन में सभी धर्मों के प्रति श्रद्धा का भाव जागृत हुआ।

राम का प्रभाव

अपने पिता के साथ-साथ अपनी माता से भी गाँधीजी को सर्वधर्म समभाव का आदर्श मिला। गांधी परिवार की सबसे बड़ी विशेषता धर्मपरायणता थी। पुतलीबाई एक आत्मबलिदानी किस्म का अनुशासन रखनेवाली महिला थीं और स्वभाव से काफी धार्मिक थीं।[9] बनियों की जिस उप-जाति से गाँधीजी ताल्लुक रखते थे वो मोढ़ बनिया कहलाती थी। मोढ़ नाम से ऐसा लगता है कि दक्षिण गुजरात के मोढ़ेरा शहर का जिक्र हो रहा हो। उनके कुल देवता राम थे। पोरबंदर में एक राम मंदिर भी था (उस मंदिर के संस्थापकों में से एक गांधी परिवार का सदस्य भी था)। वह इलाका वैष्णव परंपरा में पूरी तरह से डूबा हुआ था। भगवान विष्णु और खासकर उनके अवतार राम और कृष्ण की पूजा वहां लोगों की परंपरा में थी।[10] बचपन में ही गाँधीजी के मन में सभी धर्मों के प्रति श्रद्धा के बीज अंकुरित हो गये थे। उनकी धाय रम्भा से गाँधीजी ने राम नाम के प्रताप को जाना। राम चन्द्रजी के परम भक्त वीलेश्वर के लाघा महाराज के मीठे कण्ठ से गाँधीजी ने रामायण का अर्थ सहित श्रवण किया। गाँधीजी ने लिखा है। 'यह रामायण श्रवण रामायण के प्रति मेरे अत्यधिक प्रेम की बुनियाद है। आज में तुलसीदासजी की रामायण को भक्ति मार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ।[11]

भगवत् गीता का प्रभाव

गांधी जी के जीवन में भगवत् गीता का सर्वाधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। गांधी जी के अनुसार '1889 ई. के साल में गीताजी से मेरा प्रथम परिचय हुआ। उस समय मेरी उम्र 20 साल की थी।[12] पहली बार विलायत पहुँचने के लगभग एक वर्ष पश्चात गाँधीजी की मुलाकात दो थियोसोफिस्ट मित्रों से हुई। ये दोनों सगे भाई थे एवं अविवाहित थे। इन्होंने गाँधीजी से गीता पर वार्ता की। इन दोनों ने बताया कि वे गीता का एडविन आरनॉल्ड द्वारा अंग्रेजी में किया गया अनुवाद पढ़ रहे है।[13] दोनो भाइयों ने एडविन आरनॉल्ड कृत गीता का अंग्रेजी अनुवाद गाँधीजी को दिया। गाँधीजी ने उसे पढ़ा और उसे पढ़कर वे अत्यन्त प्रसन्न हुये, उन्हे बहुत अच्छा लगा। इस प्रकार उन दोनों भाइयो के साथ गांधी जी ने संस्कृत में भी गीता पढ़ना आरंभ कर दिया।[14] गाँधीजी ने थियोसोफिस्ट बन्धुओं के साथ 1889 में गीताध्ययन आरंभ किया। गीता अध्ययन में उनकी रुचि बढ़ने लगी। गीता के दूसरे अध्याय के अंतिम 19 श्लोकों ने गाँधीजी पर अत्यन्त प्रभाव डाला। दूसरे अध्याय के अन्तिम 19 श्लोको में से जिन दो श्लोको ने महात्मा गांधी को अत्यन्त गहराई तक प्रभावित किया वे थे—

ध्यायतो विषयान्पुसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति सम्मेहः सम्मोहात्स्मृर्तिविभ्रमः।
स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रश्यति।।[15]

अर्थात्-विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की इन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति होने से विषयों का उपभोग करने की इच्छा बढ़ती है। काम की उत्पत्ति होती है। कामना इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसे पूर्ण किये बिना मनुष्य शांति से नहीं बैठ पाता। इस कामना पूर्ति के मार्ग में कोई भी विघ्न आता है, उस विघ्न की प्रतिक्रिया स्वरुप क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध का परिणाम यह होता है कि जहाँ जो वस्तु का गुण नहीं है, वह उसे वहाँ देखने लग जाता है। जिसे मोह का नाम दिया गया है। मोह का अर्थ है अविवेक। यह मोह के वशीभूत मनुष्य की स्मृति भ्रमित हो जाती है। यह क्रोध इतना भयानक होता है कि मनुष्य सारे रिश्ते नाते, माता-पिता, भाई-बहिन, गुरु इत्यादि का भी लिहाज नहीं करता। उसकी बुद्धि का नाश हो जाता है, बुद्धि के नाश होने पर मनुष्य का भी नाश हो जाता है।[16]

गाँधीजी को यह दो श्लोक अत्यंत सार्थक लगे। कहते हैं, हीरे की परख जौहरी ही कर सकता है, और इस गीता रुपी ग्रन्थ में दो हीरे रुपी श्लोकों की पहचान गाँधीजी ने कर ली। गाँधीजी ने इसीलिये लिखा है कि निराशा के क्षणों में इस ग्रन्थ ने मेरी अमूल्य सहायता की।[17] वस्तुतः गाँधीजी प्राचीन भारतीय धर्मग्रन्थो को पूर्ण आस्था एवं विश्वास के साथ पढ़ने एवं आत्मसात करने लगे। उन्होंने लिखा भी है—'जिन पुस्तकों के बिना मेरा काम चल ही नहीं

सकता वे महाभारत, रामायण और भागवद् थीं। वेद को मूल में देखने की इच्छा उपनिषद से सतेज हुई। उसकी उत्कट कल्पनाओं से अपार आनंद हुआ और उसकी आध्यात्मिकता से मेरी आत्मा शांत हुई।'[18]

ईश्वस्योपनिषद का प्रभाव

ईश्वस्योपनिषद का पहला छंद सर्वोदय की विचारधारा से संबंधित है। छंद का पहला हिस्सा समानता और भ्रातृत्व को समाविष्ट करते हैं और दूसरा हिस्सा समाज के लिए त्याग, अ-ग्रहणशीलता, अशोषण के विचार पर आधारित है। गाँधीजी के अनुसार, ईश्वर पूरे विश्व में फैले हैं, छंद समानता और भ्रातृत्व ही उपदेश देते हैं, जो सर्वजन कल्याण के मौलिक सिद्धांत हैं। वे जोर देते हैं कि–विश्व बंधुत्व केवल मानवीय प्राणियों का भ्रातृत्व नहीं है बल्कि यह सभी जीवित प्राणियों को प्राप्त करता हूँ।[19]

बुद्ध के विचारों का प्रभाव

महात्मा बुद्ध के अनुसार, सभी का जीवन दुःखों को समाप्त करना होगा ताकि निर्वाण के परमानंद की प्राप्ति हो सके, जो बौद्धधर्म का सर्वोच्च लक्ष्य है। निर्वाण व्यक्तिवादी और वैश्विक दोनों है। यह उनके जीवन में यहां और वहां अनुभव किया जा सकता है। यह सभी प्राणियों के पूर्ण और निश्चित ज्ञान के लिए जाना जाता है। यदि सावधानी पूर्वक बुद्ध के आष्टांगिक मार्ग का अनुमान करें तो सभी को निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। गाँधीजी बुद्ध के दर्शन से अत्यधिक प्रभावित थे। जिसने विश्व-प्रेम, जीवित प्राणियों के प्रति अहिंसा, त्याग और संन्यास को सभी के लिए जनकल्याण को बढ़ावा देने के लिए उपदेश दिया। बुद्ध के मध्यम मार्ग का संदेश से गाँधीजी अत्यंत प्रभावित थे।

जैनधर्म का प्रभाव

सभी रूपों के आदशों का जनकल्याण जैन धर्म की शिला है। पांच महाव्रतों में एक का निर्माण अहिंसा करता है। अहिंसा का सकारात्मक पक्ष सभी प्राणियों के लिए प्रेम है, न केवल मनुष्य बल्कि सभी के लिए। एकजैन तीर्थकर का यह कर्तव्य है कि वह अपना संपूर्ण जीवन पूरे ब्रह्मांड के जीवों को प्रसन्नता के लिए समर्पित कर दे। जैनधर्म की शिक्षाओं से गाँधीजी अत्यंत प्रभावित थे।

गाँधी की विचारधारा पर पश्चिम का प्रभाव

गाँधीजी की विचारधारा पर सबसे गहरा प्रभाव ईसाई धर्म तथा लंदन तथा दक्षिण अफ्रीका स्थित ब्रिटिश पादरियों द्वारा की गई ईसाई धर्म की मान्यताओं व उपदेशों की मानवतावादी व्याख्याओं का था। ईसाइयत (Christianity) ने गाँधीजी को एक ऐसे धर्म तक पहुँचने में सहायता दी जिसमें धर्मशास्त्र तथा नीतिशास्त्र दोनों का समन्वय था तथा जिसे गाँधीजी ने बाद में नैतिक धर्म अथवा एथिकल रिलिजन की संज्ञा दी। रोम्या रोला ने गाँधीजी

के ईसाई धर्म संबंधी (evangelical) दृष्टिकोण को उनके हिन्दू धर्म की आत्मा की संज्ञा दी है।[21] गाँधी के दक्षिण अफ्रीका स्थित निकटतम ब्रिटिश पादरी तथा उनकी प्रथम आंशिक जीवनी लेखक जोसफ डोक के अनुसार गाँधी, ईसा मसीह ''सर्मन ऑन माउंट" अथवा ''गिरिप्रवचन" से इतने अत्यधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने इसे गीता समान आत्मा के परमात्मा विलय अथवा मोक्ष का मार्ग मान लिया था। गोपीनाथ धवन ने बात की पुष्टि करते हुए यह माना कि गाँधी पर्वत प्रवचन तथा गीता में विभेद नहीं करते क्योंकि उनके लिए दोनों का रास्ता सक्रिय रास्ता था।[22] दोनों धर्म, शारीरिक बल प्रयोग के स्थान पर आत्मिक बल को अधिक श्रेयस्कर मानते तथा दोनों ही यह अपेक्षा करते है कि घृणा का जवाब, घृणा से देकर प्रेम से दिया जाए। शायद इसीलिए ईसा मसीह की तरह गाँधी भी यह चाहते कि उनके हत्यारे को दंड देने के बजाय उसे माफ कर दिया जाए क्योंकि वह अज्ञानी है, वह जानता ही नहीं कि वह जो कर रहा उसका परिणाम क्या होगा।

ब्रिटिश शाकाहारियों का प्रभाव

गाँधीजी ने अपनी शाकाहारी प्रवृत्ति को तो अपनी माता पुतलीबाई से ग्रहण किया था, लेकिन जैम्स हंट के अनुसार, उन्होंने उसे स्वेच्छा से स्वीकार नैतिक तथा वैज्ञानिक तर्कों के आधार पर किया था।[23] गाँधी लंदन की *''वेजिटेरियन सोसाइटी''* के उद्देश्यों तथा उसके सदस्यों के विचारों तथा व्यवहार से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। उन्होंने इस सोसाइटी के विभिन्न सदस्यों के लेखों व विचारों से शाकाहारी तथा फलाहारी भोजन के नैतिक तथा वैज्ञानिक आधार को भली-भाँति समझा था। उनका विचार था कि मनुष्य मांसाहार की जगह शाकाहार तथा फलाहार को अपनाकर अपने से अपकृष्ट प्राणियों से ऊपर उठ सकता है, तथा उनके जीवन को अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए जानबूझकर नष्ट करने के बजाय, उनकी रक्षा करके उनके प्रति जीवदया तथा परमार्थ की भावना प्रदर्शित करके उनसे श्रेष्ठतर बन सकता है। ऐसा व्यवहार ही एक मानवोचित किया होगी। गाँधी की जीवदया की अवधारणा उनकी मानव की शारीरिक प्रकृति व प्रवृत्ति का एक महत्वपूर्ण पहलू है। उनकी इस अवधारणा पर न केवल *लंदन वेजिटेरियन सोसाइटी* तथा क्वेक्स की *रिलिजियस सोसाइटी ऑफ फ्रेंड्स* की, बल्कि हैनरी साल्ट की *प्ली फोर वेजिटेरियननिज्म* तथा डब्ल्यू. बी. रिचर्डसन की पुस्तक *फूड फार मैन* नामक पुस्तकों की गहरी छाप थी।[24]

जॉन रस्किन के अन टू द लॉस्ट का प्रभाव

गांधीवादी के दर्शन का सर्वोदय की खोज भारतीय आध्यात्म और धार्मिक विरासत की शिक्षाओं में की जा सकती है यद्यपि गाँधीजी इस तथ्य को स्वीकारते हैं कि उन्हें तात्कालिक प्रेरणा रस्किन के अन टू द लॉस्ट से मिली, जिसमें सर्वोदय का अर्थ चित्रित था।" सर्व जनकल्याण गाँधीजी के दर्शन का मूलाधार उसी दिन से बन गया, जब उन्होंने गुजराती में छपे

सर्वाधिक प्रसिद्ध 30 हजार शब्दों वाली पुस्तक हिन्द स्वराज या इण्डियन होमरूल 1909 में लिखी। अपनी आत्मकथा के द मैजिक स्पेल ऑफ बुक के अध्याय में रस्किन के अन टू द लॉस्ट (अंतिम का (उदय) के प्रभाव का वर्णन करते हैं। उन्होंने सर्वोदय होने का दावा किया। इसी पुस्तक से गाँधीजी ने गहरी प्रेरणा ग्रहण की और वह तुरंत ही अपने जीवन के प्रति दृष्टिकोण को रस्किन की पुस्तक अन टू द लॉस्ट में वर्णित आदर्शों के रेखा पर परिवर्तन करने का निश्चय किया।" गांधी जी के अनुसार अन टू द लास्ट की मुख्य शिक्षाएँ है

1. व्यक्ति की भलाई सब की भलाई में निहित है।[25]
2. एक वकील के कार्य का मूल्य एक नाई के कार्य के बराबर है इसी प्रकार सब को अपने कार्यो द्वारा जीविकोपार्जन का अधिकार है।
3. एक श्रमिक का जीवन, जैसे खेत को जोतने वाला और दस्तकारों का जीवन अन्य जीवों की तरह है।

रस्किन और गाँधीजी दोनों ही गंभीरतापूर्वक सामाजिक जनकल्याण से संबंधित थे। यद्यपि रस्किन ने 'अधिकतम संख्या' के सामाजिक जनकल्याण को लक्ष्य बनाया वहीं गाँधीजी ने सर्व जनकल्याण को लक्ष्य माना। अतः विनोबा भावे यह अनुभव करते हैं कि गाँधीजी सर्वोदय के अर्थ के सच्चे लेखक हैं। जबकि अ टू द लास्ट का अर्थ केवल अंतिम उदय है (अंत्योदय)। वास्तव में यह स्वीकार करना होगा कि रस्किन की अन टू द लास्ट का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से गाँधीजी पर मजबूत प्रभाव है कि वह सर्वोदय के आदर्श को पूरा करें, जिसको कि उन्होंने अपने जीवन के मिशन में बनाये रखा।[26]

थोरो तथा टालस्टाय का प्रभाव

गाँधी के विचारों पर अमरीकी नागरिक अधिकार दार्शनिक डेविड धोरो तथा रुसी विचारक लियो टालस्टाय के विचारों की भी अमिट छाप थी। गाँधी ने थोरो के ऐ*सेज आन सिविल डिसओबिडियंस* तथा टालस्टाय की *दि किंगडम ऑफ गॉड इंज विदिन यू*, वार एण्ड पीस तथा *दि गोस्पल इन चीफ* नामक पुस्तकों का गहन अध्ययन किया था तथा उनसे अत्यंत प्रभावित हुए थे। इन दोनों की तरह, गाँधी ने भी एक शासनमुक्त समाज की प्राकृतिक अवस्था के चरम लक्ष्य का स्वप्न देखा था तथा इसका उनका अपना दृष्टांत इन दोनों विचारकों के दृष्टांतों से मिलता-जुलता था। टालस्टाय तथा गाँधी दोनों ही सत्य की खोज में लगे थे।[27] वे दोनों ही यह मानते थे कि सत्य-प्राप्ति का आदर्श एक ऐसा आदर्श है जिसे मनुष्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार आंशिक रूप से तो प्राप्त कर सकता है, किंतु संपूर्ण रूप से इसे कभी भी प्राप्त नहीं कर पाएगा, क्योंकि यह एक ऐसा चरम आदर्श है कि जिसके जितने करीब पहुँचा जाए वह उतना ही दूर होता जाता है।[28]

प्लेटो का प्रभाव

पश्चिम के उदारवादियों का बौद्धिक पोषण प्लेटो तथा अरस्तू जैसे प्राचीन यूनानी दार्शनिकों की विचारधाराओं तथा परंपराओं से हुआ था। गाँधी ने अपने दक्षिण अफ्रीका के प्रवास के दौरान प्लेटो की *अपोलौजी* नामक पुस्तक का गहन अध्ययन किया था तथा उससे इतने अधिक प्रभावित हुए थे कि उसका गुजराती भाषा में सत्यवीर की कथा के नाम से अनुवाद भी कर डाला था। इस पुस्तक का, गाँधी की स्वयं की पुस्तक *हिन्द स्वराज* की शैली तथा उसमें व्यक्त उनके विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा था। गाँधी, प्लेटो की तरह, ईश्वर की सर्वोच्चता में आस्था रखते थे। उन्हें प्लेटो का *न्याय का सिद्धांत* भी बड़ा सुखद लगा था। प्लेटो की तरह, गाँधी भी यह मानते थे कि इस ब्रह्मांड का संचालन सकारात्मक अहिंसक शक्तियों के द्वारा ही होता है, न कि हिंसा और विनाश जैसी नकारात्मक शक्तियों से। इसलिए गाँधी भी प्लेटो की तरह यही चाहते थे कि मानव की इस मौलिक प्रवृत्ति को बनाए रखने तथा उसका विकास करने के लिए सब लोग अहिंसा तथा पारस्परिक प्रेम के मार्ग पर अग्रसर हों। उनकी यह मान्यता थी कि ऐसा कर पाना उनके लिए संभव है।[29]

इस्लाम का प्रभाव

ईसाई धर्म की तरह, गाँधी ने इस्लाम का भी गहन अध्ययन किया था। उन्होंने न केवल साले द्वारा किए गए कुरान के अनुवाद का अध्ययन किया था, बल्कि वाशिंगटन इविंग की *लाइफ ऑफ मुहम्मद ऐंड हिज सक्सेसर्स* तथा कालइल की *हीरोज ऐंड हीरो वर्शिप* नामक पुस्तक में पैगंबर मुहम्मद से संबंधित अध्याय को भी बड़े ध्यान से पढ़ा था। गाँधी इस्लाम की दुनिया को सबसे बड़ी देन आध्यात्मिक भाईचारे की आस्था को मानते थे। उनका विचार था कि जहाँ पैगंबर मुहम्मद ने बलपूर्वक धर्म परिवर्तन के प्रयासों का डटकर विरोध किया, वहाँ उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता, दया, चिंतन, शांति, सुरक्षा, प्रेम तथा मोक्ष का संदेश भी दिया, जिसे आगे चलकर गाँधी ने अपने धार्मिक विचारों के अनुकूल पाया।[30]

गाँधीजी के विचारों पर हिन्दू धर्मशास्त्रों के प्रभाव का संबंध है, वे मुख्य रूप से वेदांत तथा भगवद् गीता, ईश्वस्योपनिषद से प्रभावित हुए थे। इसके अलावा बुद्ध के विचारों, प्रणमी सम्प्रदाय तथा जैनधर्म के विचारों का अत्यंत प्रभाव था। शंकराचार्य, रामानुज तथा माधव जैसे वेदांत के पंडितों की व्याख्या ने गाँधीजी के ईश्वर का दर्शन सच्चिदानंद, अंतर्यामी तथा परम परमेश्वर के रूप में कराया। इस सबके बावजूद, गाँधीजी गीता के इस कथन को अधिक उचित मानते थे कि परमात्मा की संपूर्णता का वर्णन मानव मात्र के लिए असंभव ही है। वास्तव में मानव मात्र के लिए तो परमात्मा अव्यक्त ही है।[31] हिन्दू धर्मशास्त्रों के अपने अध्ययन से गाँधीजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि सत्य से बड़ा कोई लक्ष्य नहीं है तथा अंततोगत्वा जीत सत्य की ही होती है। लेकिन, गाँधीजी का यह भी विश्वास था कि इस संपूर्ण सत्य की प्राप्ति

के लक्ष्य को मनुष्य न केवल अपने आंशिक सत्य का अनुसरण करके तथा प्रार्थना व श्रद्धा के मार्ग पर चलकर ही प्राप्त कर सकता है, बल्कि उसे इसके लिए एक कर्मयोगी की तरह, मानव सेवा का मार्ग भी अपनाना पड़ेगा, क्योंकि अंत में सत्य रूपी परमात्मा की प्राप्ति के चरम आदर्श तक मनुष्य दरिद्रनारायण की सेवा के द्वारा ही पहुँच सकता है। इसलिए वे गुजराती कवि नरसिंह के इस कथन को अक्षरशः सत्य मानते थे कि एक असली सत्य-साधक तो वही वैष्णव जन होता है जो दूसरे की पीड़ा को जाने तथा पीड़ित व्यक्ति को उसकी पीड़ा से मुक्ति दिलाए।[32] गांधीजी को उनके सर्वोदय के सिद्धांत को विकसित करने में सहयोग किया। ये थे रस्किन की पुस्तक, *अन टू द लास्ट*, टॉल्सटाय की *द किंगडम ऑफ गॉड विद इन यू.* थोरो की सविनय अवज्ञा, और गाँधीजी के विचारों पर ईसाई तथा मुस्लिम धर्मों का ही अमिट प्रभाव नहीं पड़ा था। अन्य ब्रिटिश उदारवादी विचारकों का प्रभाव जिन अन्य ब्रिटिश उदारवादी विचारकों के विचारों का गाँधीजी पर प्रभाव पड़ा था, उनमें समझौतावादी विचारक टामस हाब्स तथा जान लॉक व गाँधीजी के समकालीन उदारवादी विचारक हैरल्ड लास्की के नाम प्रमुख है। इस प्रकार हम कह सकते हैं गाँधीजी की इस विचारधारा पर इन सब धर्मशास्त्रों तथा नीतिशास्त्रों की मौलिक अवधारणाओं तथा पश्चिम के विचारों का बड़ा संतुलित समन्वय है।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
इतिहास विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

संदर्भ -

1 दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2015, पृ. 450।
2 वही।
3 वही, पृ. 452।
4 गर्ग, पूनम, गांधी के विचारधारा पर पश्चिम का प्रभाव, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1995, पृ. 1।
5 गांधी, मोहनदास करम चन्द, सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, (अनुवादक काशीनाथ त्रिवेदी) नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1957, पृ. 5।
6 वही।
7 गाँधीजी की संक्षिप्त आत्मकथा, (संक्षेपकार मथुरादास त्रिकमजी), उत्तर प्रदेश गांधी स्मारक निधी, वाराणसी, 1968, पश.14।
8 गुहा, रामचंद्र, गांधी भारत से पहले, पेंगुइन बुक्स इंडिया, गुड़गांव, प्रथम संस्करण, 2015, पृ.11।
9 वही, पृ.10।
10 वही, पृ.11।
11 गांधी, मोहनदास करम चन्द, सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पूर्वोक्त, पृ. 26।
12 गांधी, महात्मा, गीता माता, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली,1998, पृ. 423।

13 वही, पृ. 411।
14 वही, पृ. 412।
15 श्रीमद् भागवद गीता, 2/62-63।
16 श्रीवास्तव, बी. के., 'गाँधी की गीतामाता और उसकी समसामयिक प्रासंगिकता', मध्यभारती, 77वां अंक, 2019, पृ. 151।
17 वही।
18 गांधी, महात्मा, गीता माता, पूर्वोक्त, पृ. 270।
19 मिश्र, अनिल दत्त, गाँधी एक अध्ययन, पियरसन, दिल्ली, 2012, पृ.105।
20 गर्ग, पूनम, गाँधी के विचारधारा पर पश्चिम का प्रभाव, पूर्वोक्त, पृ. 11।
21 रोमा रोलॉ, महात्मा गाँधी : दि मैन व बिकेम वन विद यूनिवर्सल बीइंग, आगरा : अनिर्दिष्ट, पृ. 36।
22 धवन, गोपीनाथ, दी पोलिटिकल फिलीसफी ऑफ महात्मा गांधी, नई दिल्ली : दी गांधी पीस फाउंनडेशन, 1990, पृ. 25।
23 हंट, जेम्स डी., गाँधी ऐंड दि नानकौनफोर्मिस्ट्स इन साऊथ अफ्रीका, नई दिल्ली प्रमिला ऐड कंपनी, 1986, पृ. 138।
24 एम. के. गाँधी, दि मोरल देसिस ऑफ वेजिटेरियनिज्म, अहमदाबादः नवजीवन पब्लिशिंग हाऊस, 1959, पृ. 22।
25 मिश्र, अनिल दत्त, गाँधी एक अध्ययन, पियरसन, दिल्ली, 2012, पृ.105।
26 वही, पृ. 106।
27 धवन, गोपीनाथ, दी पोलिटिकल फिलीसफी ऑफ महात्मा गांधी, पूर्वोक्त, पृ. 31, 34।
28 हंट, जेम्स डी., गाँधी ऐंड दि नानकौनफोर्मिस्ट्स इन साऊथ अफ्रीका, पूर्वोक्त, पृ. 140-141।
29 गर्ग, पूनम, गांधी के विचारधारा पर पश्चिम का प्रभाव, पूर्वोक्त, पृ. 6।
30 धवन, गोपीनाथ, दी पोलिटिकल फिलीसफी ऑफ महात्मा गांधी, पूर्वोक्त, पृ. 21-22, 30-31।
31 वर्मा, वी. पी., दि पोलिटिकल फिलोसफी ऑफ महात्मा गाँधीजी एण्ड सर्वोदय, आगरा लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, 1972, पृ. 30.35। एवं धवन, गोपीनाथ, दी पोलिटिकल फिलीसफी ऑफ महात्मा गांधी, नई दिल्ली : दी गांधी पीस फाउंनडेशन, 1990, पृ. 57-58।
32 प्रसाद, महादेव, सोशल फिलोसफी ऑफ महात्मा गाँधीजी, गोरखपुर विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1958, 38।

राजभाषा प्रकोष्ठ : कदम दर कदम

–विनोद रजक

विश्वविद्यालय में भारत सरकार की राजभाषा नीतियों का अनुपालन सुनिश्चित कराने हेतु बनाए गए राजभाषा प्रकोष्ठ में हिन्दी अधिकारी, हिन्दी अनुवादक एवं हिन्दी टंकक पदस्थ हैं। वर्ष 2020-21 के दौरान राजभाषा प्रकोष्ठ की प्रमुख गतिविधियाँ निम्नलिखित हैं :-

कार्यशाला का आयोजन एवं प्रशिक्षण सामग्री तैयार करना :

विभिन्न विभागों/अनुभागों में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से राजभाषा प्रकोष्ठ समय-समय पर हिन्दी कार्यशालाओं का आयोजन करता है। इस वित्तीय वर्ष में दिनांक 10 सितम्बर, 2020 को 'हिन्दी टंकण' तथा दिनांक 23 मार्च, 2021 को 'कार्यालयीन कामकाज में हिन्दी' विषय पर कार्यशालाएँ आयोजित की गईं। इन कार्यशालाओं में श्रीमती मंजू जैन, श्रीमती प्रियंका दीपांशु वॉल्टर, श्री दीपक मिश्रा, श्री सतेन्द्र सिंह जाट, श्री अब्दुल नवाब, श्री विकासदीप तिवारी, श्री मनोज कुमार कावड़े, श्री सुरेश मिश्रा, श्री सनत् कुमार सोनी, श्री अजय कुमार सेवते, श्री राजीव श्रीवास्तव, श्री राजेन्द्र विश्वकर्मा, श्री सुनील कुमार, श्री माधवचंद्रा, श्री मोहित सैनी, श्री शिवकान्त सिंह, श्री राकेश कुमार ठाकुर, श्री धीरज सनमोरिया, श्री विक्रमजीत वैद्य, श्री रघुराज सिंह ठाकुर, श्री चन्द्रेश गौहर, श्री सुरेश आस्के, श्री संतोष कुमार मिश्रा, श्री महबूब खाँ एवं विषय विशेषज्ञय के रूप में डॉ. पंकज तिवारी, डॉ. बबलू राय, डॉ. अनुराग श्रीवास्तव आदि उपस्थित रहे। इस वर्ष इन कार्यशालाओं के माध्यम से चरणबद्ध तरीके से विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों/अनुभागों में कार्यरत लगभग 24 अधिकारियों/कर्मचारियों को हिन्दी में कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया गया।

हिन्दी के प्रगामी प्रयोग की तिमाही रिपोर्ट : राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार के निर्देशों के तारतम्य में विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग से संबंधित तिमाही प्रगति रिपोर्ट (प्रत्येक वित्तीय वर्ष में 04) गृह मंत्रालय को ऑनलाइन प्रेषित की गईं।

विश्वविद्यालयीन राजभाशा कार्यान्वयन समिति : राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा समय-समय पर जारी आदशों/निर्देशों का अनुपालन सुनिश्चित कराने के उद्देश्य से गठित

विश्वविद्यालयीन राजभाषा कार्यान्वयन समिति की तिमाही बैठकों का आयोजन किया जाता है। इस वित्तीय वर्ष में दो बैठकें दिनांक 07.10.2020 एवं 25.03.2021 को विश्वविद्यालय के प्रशासनिक भवन में स्थित समिति कक्ष में आयोजित की गईं। इन बैठकों में कार्यालयीन कामकाज में हिन्दी के प्रयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से लिए गए निर्णयों पर भी समुचित अनुवर्ती कार्रवाई की गई।

हिन्दी सप्ताह 2020 : हिन्दी दिवस का आयोजन राजभाषा प्रकोष्ठ की महत्त्वपूर्ण गतिविधियों में से एक है। इस वर्ष राजभाषा के वार्षिक अनुष्ठान 'हिन्दी दिवस' को 'हिन्दी सप्ताह' (10 सितम्बर से 14 सितम्बर, 2020) के रूप में विशेष हर्षोल्लास के साथ मनाया गया। सप्ताह के अंतर्गत कर्मचारियों एवं अधिकारियों हेतु विभिन्न प्रतियोगिताएँ एवं व्याख्यान आयोजित किये गये।

(**i**) **प्रतियोगिताओं का आयोजन :** हिन्दी सप्ताह के अंतर्गत विश्वविद्यालय कर्मचारियों हेतु हिन्दी टंकण प्रतियोगिता एवं अधिकारियों हेतु वाद-विवाद प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। इन प्रतियोगिताओं के विजेताओं को क्रमशः रु. 3000/-, रु. 2000/- एवं रु. 1000/-के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय नकद पुरस्कार प्रदान किए। इन प्रतियोगिताओं में परीक्षक का दायित्व निर्वहन प्रो. बी.आई. गुरु, अंग्रेजी एवं अन्य यूरोपीयन भाषाएँ एवं डॉ. के.के. राव, प्रभारी परीक्षाफल निष्पादन इकाई ने किया। हिन्दी सप्ताह के दौरान वरिष्ठ आलोचक एवं कवि पद्मश्री प्रो. रमेशचंद्र शाह एवं प्रो. विजय बहादुर सिंह जी ने ऑनलाइन माध्यम से व्याख्यान दिया।

(**ii**) **मुख्य समारोह :** दिनांक 14 सितम्बर, 2020 को हिन्दी दिवस के मुख्य कार्यक्रम में मुख्य वक्ता साहित्य अकादमी पुरस्कार-2014 से सम्मानित वरिष्ठ लेखक, उपन्यासकार एवं कवि पद्मश्री रमेशचंद्र शाह जी एवं वरिष्ठ आलोचक एवं कवि प्रो. विजय बहादुर सिंह जी थे। कार्यक्रम में पद्मश्री रमेशचंद्र शाह जी ने 'हिन्दी भारत के हृदय को समझने की कुंजी है' एवं सारस्वत अतिथि के रूप में उपस्थित अतथि प्रो. विजय बहादुर सिंह जी ने 'हिन्दी हिन्दुस्तान और गाँधी' विषय पर डिजिटल माध्यम से व्याख्यान दिया। कार्यक्रम को विश्वविद्यालय के प्रभारी कुलपति महोदया प्रो. जे.डी. आही, प्रभारी कुलसचिव श्री संतोष सोहगौरा, एवं हिन्दी विभाग की अध्यक्षा प्रो. चंदा बैन ने भी सम्बोधित किया। कार्यक्रम में अधिकारियों, शिक्षकों, कर्मचारियों एवं छात्र-छात्राओं ने डिजिटल माध्यम से बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया।

राजभाषा पदक : विश्वविद्यालय की कार्य परिषद के अनुमोदन से इस वर्ष वित्तीय वर्ष 2019-20 में विश्वविद्यालय के कार्यालयीन कामकाज में राजभाषा हिन्दी के उत्कृष्ट प्रयोग करने वाले एक अधिकारी डॉ. सुब्रत कुमार विश्वास, संयुक्त कुलसचिव एवं तीन कर्मचारियों- श्री देवेन्द्र कुमार सिलार अवर श्रेणी लिपिक- प्रथम, श्री अजय कुमार सेवते, प्रवर श्रेणी लिपिक एवं श्री गोपाल रोहित, सहायक को केन्द्रीय विश्वविद्यालय स्थापना दिवस (15 जनवरी, 2021) के अवसर पर राजभाषा पदक एवं प्रथम द्वितीय एवं तृतीय पुरस्कार विजेताओं को क्रमशः रु. 3000/-, रु. 2000/- एवं रु. 1000/- के नकद पुरस्कार प्रदान किए गए।

अनुवाद कार्य : विश्वविद्यालय की वार्षिक लेखा रिर्पोट (2019-20), और प्रवेश विवरणिका (2020-21) का अनुवाद किया गया। विश्वविद्यालय द्वारा जारी की जाने वाली विभिन्न प्रेस विज्ञप्तियों, निविदा सूचनाओं आदि का यथावश्यक अनुवाद किया गया। नैड में अपलोड किए जाने वाले डाटा की वेटिंग की गई। कार्यालय के विभिन्न अनुभागों द्वारा वांछित विभिन्न प्रपत्रों एवं कार्यालयीन साहित्य का अनुवाद किया गया। कार्यालय में प्रचलित विभिन्न प्रपत्रों एवं अन्य आवश्यक दस्तावेजों का द्विभाषीकरण किया गया। राजभाषा प्रकोष्ठ राजभाषा अधिनियम 1963 की धारा 3(3) के अनुपालन के लिए भी सतत् प्रयासरत है।

सम्मान :

हिन्दी अधिकारी डॉ. छबिल कुमार मेहेर को राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा उनकी बहुचर्चित आलोचनात्मक कृति 'भाषा प्रयुक्ति और अनुवाद' हेतु 'राजभाषा गौरव (प्रथम) पुरस्कार' से सम्मानित किया गया है।

अन्य कार्य :

नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति, सागर की बैठकों में विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में हिस्सा लिया।

हिन्दी टंकक
राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)